

# चलते फिरते सिद्धों से गुरु

लेखक :

अध्यात्म रत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल  
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड  
प्राचार्य - श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : ५ हजार  
(५ अगस्त २००७)  
आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, जयपुर

### — मुनि दीक्षा से पूर्व एवं पश्चात् पठनीय —

गूढतम सिद्धान्तों को कथा शैली में पिरो देना एक कठिन काम है, परन्तु लेखक महोदय ने पाठकों के लिए यह सुगम और सुलभ कर दी है। इस पुस्तक में भी पूर्व पुस्तकों की भांति वही आकर्षण पूर्णतया विद्यमान है।

मैंने इसे आद्योपांत पढा है। इसके २२ परिषह एवं १२ भावना के प्रकरण अत्यंत रोचक बन पड़े हैं, जो मुनि दीक्षा से पूर्व एवं पश्चात् अवश्य पठनीय हैं।

इस तात्त्विक पुस्तक में मुनिराजों के प्रति समाज में कितना आकर्षण है एवं उनके माध्यम से कितनी निर्दोष धर्म प्रभावना होती है, इसका सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है।

आबाल, वृद्ध इसका लाभ अवश्य लेंगे, श्रीजिनशासन की प्रभावना एवं पूज्य गुरुदेवश्री के यश का संवहन युगों-युगों तक करते रहने में आप अवश्य सफल रहेंगे।

— ब्र. सुमतप्रकाश जैन एम कॉम,  
पूर्व प्रोफेसर, हमीदिया कॉलेज, भोपाल  
निदेशक, नन्दीश्वर विद्यालय खनियांधाना (म.प्र.)

मूल्य : पन्द्रह रुपए

मुद्रक :  
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड  
बाईस गोदाम,  
जयपुर

### अन्तर्भावना

निर्ग्रन्थ मुनिराज का अन्तर्बाह्य जीवन इतना पवित्र होता है कि उनके दर्शन और स्मरणमात्र से हमारे पापभावों का प्रक्षालन हो जाता है। मुनिराज क्षण-क्षण में अन्तर्मुख होकर चिदानन्द का रसपान किया करते हैं, उनके जीवन का अनुकरण करके हम भी गृह जंजाल से मुक्त होकर उन्हीं की भांति मुनिधर्म धारण कर मुक्तिपथ के पथिक बनें - ऐसी हमारी हार्दिक भावना है।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से हम मुनिधर्म के स्वरूप को हृदयंगम कर उसे निर्दोषरूप से जीवन में अपनायें। यही इस कृति को लिखने का पावन उद्देश्य है।

हमें भी तो संसार के अनन्त दुःखों से मुक्त होना है और हम यह भलीभांति जानते हैं कि मुनिधर्म धारण किए बिना मुक्ति नहीं मिलेगी। अतः मुनि जीवन को न केवल समझना होगा, उसे अपना भी होगा। एतदर्थ अपना मानस अभी से बनाना है, तभी तो यह पुण्य अवसर कभी न कभी तो मिलेगा ही।

मुनि जीवन यद्यपि ऊपर से कठोर लगता है, पर यह कष्टदायी नहीं है। इसमें जो सुखद अनुभूति होती है, ऐसी अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हो सकती।

आत्मार्थी जीवों के चित्त में मुनि धर्म धारण करने की भावना निरंतर उछलती है। भले ही अभी हम सामर्थ्य हीन होने से उस दशा को प्राप्त न कर पायें, तो भी भावना में तो निरन्तर यही बात बनी रहती है और मानवीय मनोविज्ञान भी यह है कि जिसे जिस काम को करने की भावना होती है, वह उस संदर्भ को सम्पूर्ण विस्तार से जानना चाहता है। मुनि जीवन अपनानेवाले के हृदय में मुनि जीवन के अन्तर्बाह्य पक्ष को सावधानी पूर्वक समझने का उत्साह होता है।

आशा है पाठकगण मेरी पवित्र अन्तर्भावनाओं का सम्मान करते हुए इसे मात्र स्वान्तः सुखाय ही पढ़ेंगे, इस कृति को दूसरों के लिए कसौटी न बनायें और इसी पवित्र भावना से दूसरों को पढ़ने की प्रेरणा देकर मेरे प्रयास को सफल करें - ऐसा मेरा विनम्र निवेदन है।

— रतनचन्द भारिल्ल

“श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम्।  
त्रिमूढा षोडशमस्तांगम् सम्यग्दर्शमस्यम् ॥४॥

अर्थात् तीन मूढ़ता और आठ मद रहित तथा आठ अंग सहित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।”

स्वामी समन्तभद्राचार्य के उक्त कथन में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता एवं पाखंडमूढ़ता का संकल्प पूर्वक त्याग करने पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि इसके त्याग बिना तो सम्यग्दर्शन होना ही संभव नहीं है।

एतदर्थ आगम के आलोक में लिखी गई निर्ग्रन्थ गुरु का यथार्थ स्वरूप दर्शानेवाली एवं गुरु मूढ़ता के अज्ञान के आवरण को हटाने वाली ‘चलते फिरते सिद्धों से गुरु’ कृति पाठकों के हाथों में पहुँचाते हुए मुझे जो हर्ष हो रहा है, उसे मैं वाणी में व्यक्त नहीं कर सकता। मैं भी बहुत समय से ऐसी ही कृति की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। मेरी वह भावना प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन से पूरी हो रही है।

यदि शतांश पाठक भी इस कृति से लाभान्वित हुए तो लेखक का श्रम सार्थक हो जायेगा।

इस कृति के लेखक जैनसमाज के जाने/माने अनेक लोकप्रिय कथा कृतियों के कुशल चितरे एवं अध्यात्म के गहन अध्येता पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का इस कृति के लेखन के लिए जितना उपकार माना जाय, कम है।

सुन्दर मुद्रण के लिए अखिल बंसल, टाईपसैटिंग के लिए कैलाशचन्द्र शर्मा एवं कीमत कम करनेवाले दातारों को बहुत-बहुत धन्यवाद।

— ब्र. यशपाल जैन, एम. ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

दिगम्बर मुनि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप आत्मा में अनुरक्त, सभी प्रकार के आरंभ व परिग्रह से रहित दिन-रात ज्ञान, ध्यान एवं तप में निमग्न रहते हैं।

दिगम्बर मुनियों के हृदय में सब संसारी जीवों के प्रति ऐसा करुणा भाव होता है कि सभी प्राणी वस्तुस्वरूप को समझकर सन्मार्ग में लगे। एतदर्थ वे शास्त्र लिखते हैं, उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में शत्रु-मित्र, महल-मशान, कंचन-कांच, निन्दा-प्रशंसा आदि में कोई अन्तर नहीं होता। वे पदपूजक और अस्त्र-शस्त्र प्रहारक में सदा समताभाव धारण करते हैं।

दिगम्बर मुनि पूर्ण स्वावलम्बी और स्वाभिमानी होते हैं। यही कारण है कि वे तिल-तुष मात्र परिग्रह नहीं रखते, नग्न रहते हैं और सिंहवृत्ति से निर्भय रहते हैं एवं भ्रमर वृत्ति से आहार लेते हैं। जब अर्द्धरात्रि में सारा जगत मोह की नींद में सो रहा होता है अथवा विषय-वासनाओं में मग्न होकर मुक्ति के निष्कण्टक पथ में विषकण्टक बो रहा होता है, तब दिगम्बर मुनि अनित्य आदि बारह भावनाओं के माध्यम से संसार, शरीर व भोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता आदि का चिन्तन करते हुए आत्मध्यान में मग्न रहने का पुरुषार्थ करते रहते हैं। काम-क्रोध-मद-मोह आदि विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करते रहते हैं।

वे नवजात शिशुवत् अत्यन्त निर्विकारी होने से नग्न ही रहते हैं। उन्हें वस्त्र धारण करने का विकल्प ही नहीं आता, आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। जिसतरह काम वासना से रहित बालक माँ बहन के समक्ष लजाता नहीं है, शर्माता नहीं है एवं संकोच भी नहीं करता, निशंक रहता है। ठीक इसी तरह मुनि भी पूर्ण निर्विकारी होने के कारण लज्जित नहीं होते।

छटवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में वस्त्र धारण करने का मन में

विकल्प ही नहीं आता। संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ के सिवाय अनन्तानुबंधी आदि तीनों कषायों की चौकड़ी का अभाव हो जाने से उनके पूर्ण निर्ग्रन्थ दशा प्रकट हो गई है। इस तरह जब उनके मन में ही कोई ग्रन्थि (गांठ) नहीं रही तो तन पर वस्त्र की गांठ कैसे लग सकती है? जैसे नग्न नवजात शिशु को देखकर माँ-बहिनें भी नहीं लजातीं, उसीप्रकार निर्विकारी मुनि को देखकर माँ-बहिनें लजाती नहीं हैं; बल्कि उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति विशेष बढ़ जाती है।

वैसे सवस्त्र व निर्वस्त्र के पक्ष-विपक्ष में अनेकों तर्क दिये जा सकते हैं, उनके लाभ-अलाभ गिनाये जा सकते हैं। पर वे सब कुतर्क होंगे; क्योंकि वस्तु स्वरूप में कोई तर्क नहीं चलता। वस्तु का स्वरूप तो तर्क-वितर्क से परे है। इसके पीछे तर्क नहीं चलता कि अग्नि गर्म व पानी ठंडा क्यों है? नारी के मूँछे व मोरनी के पंख क्यों नहीं होते? इसके पीछे तर्क खोजने की जरूरत नहीं है। लौकिक दृष्टि से भी साधुओं को सामाजिक सीमाओं में नहीं घेरा जा सकता है, क्योंकि वे लोकव्यवहार से अतीत हो चुके हैं। वे तो वनवासी सिंह की तरह पूर्ण स्वतंत्र स्वावलम्बी, अत्यन्त निर्भय एवं एकान्त प्रिय होते हैं। इसीकारण वे मुख्यतया एकान्तवासी ही होते हैं।

यदि कोई पवित्रभाव से दिगम्बर जैन मुनियों के नग्न होने के कारणों की खोज करना चाहे तो भले करे; एतदर्थ वह पूर्ण स्वाधीन है।

वस्त्र तो अंतरंग वासना के एवं मनोविकार के प्रतीक हैं, पराधीनता के कारण हैं, भय, चिन्ता तथा आकुलता उत्पन्न कराने में एवं ममता, मोह बढ़ाने में निमित्त हैं, अतः मुनि नग्न ही रहते हैं।

जो इन्द्रियों को जीतता है, वही जितेन्द्रिय है। मुनियों ने इन्द्रियों को जीत लिया है, अतः वे जितेन्द्रिय हैं।

जिसे अखण्ड आत्मा को प्राप्त करना हो उसे अखंड स्पर्शन इन्द्रिय को जीतना ही होगा। जिसतरह शरीर में लगी छोटी सी फांस भी असह्य वेदना का कारण बनती है, उसी तरह एक वस्त्र का परिग्रह असीम दुःख

का कारण है और जब दिगम्बर मुनि को जितेन्द्रिय होने से वस्त्रादि की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता तो वह वस्त्रों का परिग्रह रखकर अनावश्यक मुसीबतों को आमंत्रण ही क्यों देंगे?

जब व्यक्ति को एक वस्त्र की झंझट छूट जाने से हजारों अन्य झंझटों से सहज ही मुक्ति मिल जाती हो तो वह बिना वजह वस्त्र का बोझा ढोये ही क्यों? एक लगोटी के स्वीकार करते ही पूरा का पूरा परिग्रह माथे मढ़ जाता है।

उदाहरणार्थ - लंगोटी धारी साधु को दूसरे ही दिन लंगोटी बदलने के लिए दूसरी लंगोटी चाहिए, फिर उसे धोने के लिए पानी-साबुन, रख-रखाव के लिए पेट्टी, पानी के लिए बर्तन, बर्तन के लिए घर, घर के लिए घरवाली, घरवाली के भरण-पोषण के लिए धंधा-व्यापार, कहाँ तक अन्त आयेगा इसका? पूजन की पंक्ति में ठीक ही कहा है -

“फांस तनक ही तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले।”

सवस्त्र साधु पूर्ण अहिंसक, निर्मोही और अपरिग्रही रह ही नहीं सकता। अयाचक, स्वाधीन व स्वावलंबी भी नहीं रह सकता। वह लज्जा परीषहजयी भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्र के प्रति अनुराग एवं ममता बिना वस्त्र का शरीर पर बहुत काल तक रहना एवं उसे बदलना संभव नहीं है और राग एवं ममत्व ही तो भावहिंसा है।

अन्नपान (भोजन) के पक्ष में भी कदाचित् कोई यही तर्क दे सकता है, पर आहार लेना अशक्यानुष्ठान है। आहार के बिना तो जीवन संभव ही नहीं है, फिर भी वे अयाचकता तथा निस्पृह वृत्ति से ही आहार लेते हैं। वस्त्र के साथ यह समस्या नहीं है।

दूसरे यदि स्वाभिमान के साथ निर्दोष व निरन्तराय भोजन न मिले तो छोड़ा भी जा सकता है, छोड़ भी दिया जाता है; पर वस्त्र के साथ ऐसा होना संभव नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता है कि आज वस्त्र न पहने जायें और कल पहन लिए जावें। वस्त्रों को तो हर हालत में वस्त्र धारण करना

और फिर उन्हें बदलना ही होगा एवं रख रखाव की व्यवस्था भी करनी ही होगी। अतः वस्त्र धारण करने में दीनता-हीनता एवं पराधीनता की संभावना अधिक है।

दिगम्बरत्व मुनिराज का भेष या ड्रेस नहीं है, जिसे मनमाने ढंग से जब चाहें तब बदला जा सके। यह तो उसका स्वाभाविक रूप है, स्वरूप है। अपने मन को इसकी स्वाभाविकता स्वीकृत है, एतदर्थ एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्कमिडीज की उस घटना का स्मरण किया जा सकता है, जिसमें वह सारे नगर में नंगा घूमा था। उसके बारे में कहा जाता है कि वह एक वैज्ञानिक सूत्र की खोज में बहुत दिनों से परेशान था। दिन-रात उसी के सोच विचार में डूबा रहता था। एक दिन बाथरूम में नग्न होकर स्नान कर रहा था कि अचानक उसे उस अन्वेषण सूत्र का समाधान मिल गया, जिससे उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह भावविभोर हो स्नान घर से वैसा नंगा ही निकलकर नगर के बीच से गुजरता हुआ दौड़ता-दौड़ता राजा के पास जा पहुँचा। उसे नग्न देखकर राजा को आश्चर्य भी हो रहा था और हंसी भी आ रही थी। पर उस वैज्ञानिक के लिए वह अस्वाभाविक नहीं था।

ऐसी धुन के बिना कोई भी बड़ी शोध-खोज संभव नहीं है। चाहे वह ज्ञान-विज्ञान की हो या सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा की हो।

आर्कमिडीज भी अपने धुन का धुनिया था। राजा क्या कह रहा है, क्या कर रहा है, इसकी परवाह किए बिना वह तो अपनी ही कहे जा रहा था, अपनी उपलब्धि के गीत गाये जा रहा था। अपनी नग्नता पर उसका ध्यान ही नहीं था, दिगम्बर मुनि भी ऐसे ही अपने आत्मा की शोध-खोज में इतने मग्न रहते हैं कि उन्हें भी वस्त्र का परिग्रह रखने की न सुध-बुध होती है और न ही फुरसत। अतः वे पूर्ण निर्ग्रन्थ ही रहते हैं।

दिगम्बरत्व की स्वाभाविकता सहजता और निर्विकारता के साथ उसकी अनिवार्यता से अपरिचित कतिपय महानुभावों को मुनि की नग्नता में असभ्यता और असामाजिकता दृष्टिगोचर होती है। अतः ऐसे लोग नग्नता

से नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं, घृणा का भाव भी व्यक्त करते रहते हैं, पर ऐसे व्यक्तियों को नग्नता को निर्विकारता के दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

हाँ, केवल तन से नग्न होने का नाम दिगम्बरत्व नहीं है, आत्मज्ञान के साथ राग-द्वेष व कामादि विकारों से रहित होकर नग्न होना ही सच्चा दिगम्बरत्व है। ऐसी नग्नता कभी अशिष्टता नहीं हो सकती, लज्जाजनक नहीं हो सकती। निर्विकारी हुए बिना नग्नता निश्चित ही निंदनीय है।

हिन्दु धर्म के प्रसिद्ध पौराणिक पुरुष शुक्राचार्य के कथानक से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि 'तन से नग्नता के साथ मन का निर्विकारी होना कितना आवश्यक है, अन्यथा जो नग्नता पूज्य है वही निंद्य भी हो जाती है।

कहा जाता है कि शुकदेव मुनि युवा थे, पर शिशुवत् निर्विकारी थे। अतः सहजभाव से नग्न रहते थे। एक दिन वे एक तालाब के किनारे जा रहे थे, वहाँ देवकन्यायें निर्वस्त्र होकर स्नान व जलक्रीड़ा कर रही थीं, मुनि शुकदेवजी को देखकर वैसे ही स्नान करती रहीं, जरा भी नहीं लजाई। वे सभी एक-दूसरे की नग्नता से जरा भी प्रभावित नहीं हुए।

थोड़ी देर बाद उन्हीं के वयोवृद्ध पिता महर्षि वेदव्यास वहाँ से निकले, उन्हें देखते ही सभी देवकन्यायें लजा गईं। वे न केवल लजाई बल्कि क्षुब्ध भी हो गईं। जलक्रीड़ा को जलांजलि देकर हड़-बड़ में तालाब से निकली और सबने अपने-अपने वस्त्र पहन लिये और लज्जा से अपनी सुध-बुध खो बैठीं। एक नंगे युवा को देखकर तो लजाई नहीं और सब एक वृद्ध व्यक्ति को देखकर लजा गईं।

जरा सोचिए! इसका क्या कारण हो सकता है? बस यही न कि तन से नंगा युवक मन से भी नंगा था, निर्विकारी था और उसके पिता अभी मन से पूर्ण निर्विकारी नहीं हो सके थे। यह बात नारियों की निगाह से छिपी नहीं रही, रह भी नहीं सकती। कोई कितना भी छिपाये, विकार तो सिर पर चढ़कर बोलता है। उक्ति है - "मुखाकृति कह देत है, मैले मन की बात।"

नग्रता से नफरत करने का अर्थ है कि हमें अपना निर्विकारी होना पसंद नहीं है। पापी रहना एवं उसे वस्त्रों से छुपाये रहना ही पसंद है। जैसे शरीर के घावों को खुला रखना भी तो मौत को आमंत्रण देना है, उन्हें ढकना ही पड़ता है, वैसे ही यदि मन में विकार के घाव हैं तो तन को वस्त्र से ढकना भी अनिवार्य है।

वीतरागी भावना के बिना अर्थात् निर्विकारी हुए बिना नग्रता तो मात्र कलंक ही है। अतः तन की नग्रता के साथ मन की नग्रता अनिवार्य है। इसीलिए तो कहा है कि 'सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ चारित्र लीजै।'

बिना आत्मज्ञान के भी कभी-कभी व्यक्ति मुनिव्रत अंगीकार कर लेता है, जिससे कोई लाभ नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं -

“णगो पावड़ दुःखं णगो संसार सागरे भमइ ।  
णगो न लहहि बोहि, जिणभावण वज्जिओ सुइं ॥

जिन भावना से रहित केवल तन से नग्र व्यक्ति दुःख पाता है, वह संसार सागर में ही गोते खाता है, उसे बोधि की प्राप्ति नहीं होती है। अतः तन से नग्र होने के पहले मन से नग्र अर्थात् आत्मानुभवी एवं निर्विकारी होना आवश्यक है।”<sup>१</sup>

जिनागम के सिवाय अन्य जैनेतर शास्त्रों एवं पुराणों में भी दिगम्बरत्व एवं दिगम्बर मुनियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं, कुछ इसप्रकार हैं -

● रामायण में दिगम्बर मुनियों की चर्चा है - “राजा दशरथ जैन श्रमणों को आहार देते बताये गये हैं। भूषण टीका में श्रमण का अर्थ स्पष्ट दिगम्बर मुनि मिलता है।”<sup>२</sup>

● हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध पुराण श्रीमद् भागवत् और विष्णु पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का ही दिगम्बर मुनि के रूप में उल्लेख मिलता है। इसी तरह वायुपुराण एवं स्कंध पुराण में भी दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व दर्शाया गया है।<sup>३</sup>

● बौद्ध शास्त्रों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो भगवान महावीर से

पहले दिगम्बर मुनियों का होना सिद्ध करते हैं।<sup>४</sup>

● ईसाई धर्म में भी दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि आदम और हव्वा नंगे रहते हुए कभी नहीं लजाये और न वे विकार के चंगुल में फंसकर अपने सदाचार से हाथ धो बैठे, परन्तु जब उन्होंने पाप-पुण्य का वर्जित (निषिद्ध) फल खा लिया तो वे अपनी प्राकृत दशा खो बैठे और संसार के साधारण प्राणी हो गये।<sup>५</sup>

● इस्लाम धर्म में भी ऐसे दरवेश हुए हैं, जो दिगम्बरत्व के हिमायती थे। तुर्किस्तान में अब्दल नामक दरवेश नंगे रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे।

● इस्लाम के महान सूफी तत्त्ववेत्ता और सुप्रसिद्ध 'मस्नवी' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री अलालुद्दीक रूसी ने दिगम्बरत्व का खुला उपदेश दिया है।<sup>६</sup>

उन्होंने 'अब्दल' दरवेश को याद करते हुए कहा कि एक तार्किक मस्त नंगे अब्दल दरवेश से आ उलझा। उसने सीधे से कह दिया कि 'जा अपना काम कर! तू नंगे के सामने टिक नहीं सकता। जाते-जाते एक बात सुन जा! वस्त्रधारी को हमेशा धोबी की फिक्र लगी रहती है, किन्तु नंगे तन की शोभा देवी प्रकाश से है। या तो तू नंगे दरवेशों से कोई सारोकार मत रख अथवा उनकी तरह ही तू भी आजाद और नंगा हो जा और अगर तू एकसाथ सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम कपड़े पहन और मध्यममार्ग को ग्रहण कर!'

इसप्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक श्रमण एवं वैष्णव साहित्य में यहाँ तक कहा गया है कि दिगम्बर मुनि हुए बिना मोक्ष की साधना एवं कैवल्य प्राप्ति संभव नहीं है। - रतनचन्द भारिल्ल

१. भावपाहुड़ गाथा ६८

२. सर्ग १४ श्लोक २२

३. विष्णुपुराण तृतीयांश १७/१८

४. जातक भाग-२ पृष्ठ १८२

५. दि हिस्ट्री ऑफ यूरोपियन मोरल चैप-४, पृष्ठ-७

६. मस्तवी जिल्द २ पृष्ठ-३८

## क्या/कहाँ

अन्तर्भावना	३
प्रकाशकीय	४
प्रस्तावना	५-१२
आत्मकथ्य	१३-१४
मुनियों के विचार	१५-१६
१. देवगढ़ : देवों का गढ़	१७-२१
२. मुनिपद की महिमा	२२-२७
३. मुनिधर्म साधन की प्रक्रिया	२८-३२
४. दिगम्बर मुनि का स्वरूप और चर्या	३३-४६
५. मुनि के २८ मूलगुण	४७-५९
६. साधु के दस स्थितिकल्प	६०-६९
७. मुनि की आहार चर्या, नग्नता और द्रव्यलिंगी के भेद	७०-७८
८. आचार्य के पंचाचार	७९-९०
९. धर्म के दस लक्षण (मुनि के उत्तर गुण)	९१-९८
१०. बाईस परीषहजय (मुनि के उत्तर गुण)	९९-११५
११. बारह तप (मुनि के उत्तर गुण)	११६-१३०
१२. निश्चय एवं व्यवहारनय विशेषज्ञ	१३१-१४१
१३. बारह भावना : सामान्य विवेचन (मुनि के उत्तर गुण)	१४२-१५१
१४. बारह भावना : विशेष विवेचन	१५२-१७२
१५. मुनिराज के भेद-प्रभेद	१७३-१९३
१६. मुनि का स्वरूप और उनकी महिमा	१९४-२०७
१७. तत्त्वज्ञानी रहित निग्रंथपना निष्फल	२०८-२११
१८. लेखक के अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन	२१२
१९. अभिमत	२१३-२१६

## आत्म कथ्य

धन्य दिगम्बर मुनि दशा,  
धन्य दिगम्बर भेष।  
अंग-अंग से झरत है,  
निर्विकार संदेश॥

मन में किंचित् है नहीं,  
राग-द्वेष का लेश।  
वाणी में हित-मित वचन,  
काया सहत क्लेश॥

पंच महाव्रत, समिति पन  
पंचेन्द्रिय जय पाय।  
षट् आवश्यक, सप्त गुण,  
पाले मन-वच-काय॥

जीवन चर्या सहज ही,  
चलती है निर्दोष।  
आगम के अनुसार ही,  
लगे न किंचित् दोष॥

बारह भावन चिंतवन,  
धारे दस विधि धर्म।  
परिषह अरु उपसर्ग सह,  
काटे वसु विध कर्म॥

खेंच तानकर नहीं करें,  
नहिं लागें अतिचार।  
उत्तर गुण मुनि पालते,  
शक्ति के अनुसार ॥

इह विध बाह्याचार सह,  
चिंतत आतम धर्म।  
क्षण-क्षण अन्तर्लीन हों,  
पा लेते निज मर्म ॥

गुरुवर ! चिर जयन्त हों,  
दर्शाये शिव पन्थ।  
चाहत मेरी है यही,  
कब छोड़ूँ जग पन्थ ॥

निर्ग्रन्थ बिना मिलता नहीं,  
शिवपुर का शिव पन्थ।  
मेरी हार्दिक भावना,  
बन जाऊँ निर्ग्रन्थ ॥

मुनिवर मेरे मन वसें,  
चलते-फिरते सिद्ध।  
दर्शन-वंदन-नमन से,  
परिणति होय विशुद्ध ॥

- रतनचन्द भारिल्ल

## समर्पण

प्रस्तुत कृति समर्पित है उन्हें, जिन्होंने किशोर वय में एक स्वप्न देखा था, एक कल्पना की थी कि - "यदि मेरी शादी हुई और पुत्र हुए तो मैं उन्हें जैनदर्शन का उच्च कोटि का ऐसा उद्भट विद्वान बनाऊँगा जिससे वे स्व-पर हित कर सकें, भले उसके लिए मुझे कुछ भी क्यों न करना पड़े।

अपने उस दृढ़ संकल्प और सम्पूर्ण समर्पण से उन्होंने अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी मुझे और मेरे अनुज हुकमचन्द को जैनदर्शन का विद्वान बनाकर अपना स्वप्न साकार कर लिया। उन्होंने अपने घर की बगिया में न केवल खिलते हुए फूलों के रूप में हमें देखा; बल्कि स्वयं ने भी ढलती हुई उम्र में उग्र पुरुषार्थपूर्वक नियमित स्वाध्याय से जिनवाणी के रहस्य को जानकर अपने जीवन को भी सफल कर लिया; इसीकारण वे अपने हमउम्र के साधर्मियों के लिए भी प्रेरणास्रोत बने रहे।

यद्यपि मैं उनकी भावनाओं को पूर्ण करने के लिए जीवन के अन्तिम क्षण तक जिनवाणी की सेवा में सक्रिय रहने के लिए कृत संकल्पित हूँ; तथापि पता नहीं, क्षणभंगुर जीवन की आयु कब पूर्ण हो जाये, इसलिए मैं अब तक लिखी कृतियों में अपनी यह संभवतः अन्तिम कृति '**चलते फिरते सिद्धों से गुरु**' स्व. पूज्य पिताश्री हरदासजी एवं स्व. पूज्य माता श्री पार्वतीबाई को समर्पित करते हुए उनके चरणों में शत्-शत् नमन करता हूँ।

**श्रद्धावनत्**

२३ अगस्त, २००७

- (पण्डित) रतनचन्द भारिल्ल एवं परिवार



## प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१. श्री अशोककुमार जसराजजी जैन, बैंगलोर	११००.००
२. श्री भभूतमलजी चम्पालाल एवं रमेशचन्द्र भण्डारी परिवार, बैंगलोर	११००.००
३. श्री अजितकुमारजी तोतूका, जयपुर	११००.००
४. श्रीमती अचरजकुमारी निहालचन्द्रजी जैन, जयपुर	११००.००
५. अहिंसा चेरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई हस्ते दिलीपभाई मेहता	११००.००
५. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
६. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचंदजी छाबड़ा, इन्दौर	५०१.००
७. श्री सुरेशचन्द्र सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	५०१.००
८. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	५०१.००
९. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री विमलकुमारजी जैन, 'नीरु केमिकल्स', दिल्ली	५०१.००
१०. श्री सुरेशकुमार भानूलालजी जैन, पिड़ावा	५०१.००
११. श्री भागचन्द्रजी कालिका, उदयपुर	५०१.००
१२. श्री रतनमाला जैन, दिल्ली	५०१.००
१३. श्री फूलचन्द्रजी पाटनी, कोलकाता	५०१.००
१४. श्री मांगीलाल ललित संदीप जैन, अहमदाबाद	५०१.००
१५. श्री पन्नालाल अभयकुमार जैन, देवलागाँवराजा	५०१.००
१६. श्रीमती लालीदेवी जैन, इटावा	५०१.००
१७. श्री सुबोधप्रकाशजी जैन, मैनपुरी इटावा	५०१.००
१८. संजीव स्मृति कोष हस्ते एम.पी. जैन, जयपुर	५०१.००
१९. श्रीमती चन्दादेवी हजारीलाल ट्रस्ट, अलवर	५०१.००
२०. श्री प्रेमचन्द्रजी बाकलीवाल, जयपुर	५०१.००
२१. स्व. शकुन्तलादेवी जवाहरलालजी जैन, जयपुर	५०१.००
२२. श्री ताराचन्द्रजी सोगानी, जयपुर	५०१.००
२३. श्री मूलचन्द्रजी छाबड़ा, जयपुर	५०१.००
२४. श्री रतनचन्द्रजी शास्त्री, कोटा	५००.००
२५. श्रीमती सुमन जैन, इटावा	५००.००
२६. श्रीमती सुनीता जैन, इटावा	५००.००
२७. श्रीमती कमलाबाई रतनचन्द्रजी भारिल्ल, जयपुर	५००.००
२८. श्री शान्तिलालजी जैन अलवरवाले, जयपुर	५००.००
२९. श्री कैलाशचन्द्रजी सेठी, जयपुर	५००.००
३०. श्री हुकमचन्द्रजी जैन, जयपुर	५००.००
३१. स्व. बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
३२. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्द्रजी पाटनी, लाँडनू	२५१.००
३३. स्व. ऋषभकुमार पुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१.००
३४. ब्र. कुसुमताई पाटील, कुम्भोज	२५१.००
३५. श्रीमती अनिलाबेन विजयकुमार गांधी, नातेपुते	२०१.००
३६. श्रीमती नीलू ध.प. राजेशकुमार मनोहलालजी काला, इन्दौर	२०१.००
३७. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	२०१.००
३८. स्व. श्रीमती धापूदेवी ध.प. स्व. श्री ताराचन्द्रजी गंगवाल की पुण्य स्मृति में, जयपुर	२०१.००
<b>कुल राशि</b>	<b>२०,३२७.००</b>



निःसंदेह सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड कभी दिगम्बर जैन संस्कृति और मूर्तिकला का केन्द्र रहा होगा; क्योंकि आज भी वहाँ के चप्पे-चप्पे में विशालकाय दिगम्बर जैन मूर्तियाँ खण्डित और अखंडित अवस्था में विद्यमान हैं, तथा उकेरी गई कला कृतियों से सुसज्जित खंडित-अखंडित जिन प्रतिमाओं एवं जिन मंदिरों के खंडित अवशेष मानो पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि “आतताइयों द्वारा हम पर घोर अत्याचार हुए हैं, हमें खण्डित और ध्वस्त किया गया है।”

प्रमाण के रूप में जमीन की जुताई और खुदाई के रूप में बहुत से अवशेष मिल चुके हैं और बहुत सी मूर्तियाँ और मन्दिर अभी भी भूगर्भ में दबे पड़े हैं, जो यदा-कदा मिलते रहते हैं।

इसी बुन्देलखण्ड में एक ललितपुर नगर है, जो दिगम्बर जैन समाज का गढ़ है। ललितपुर नगर के निकट वहाँ से लगभग बीस किलोमीटर दूर तथा जाखलोन ग्राम से तीन किलोमीटर की दूरी पर देवगढ़ नामक दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र है। जाखलोन ग्राम में भी कभी बहुसंख्य जैनों का निवास स्थान था। अभी भी देवगढ़ की विशालकाय, अनगिनत खण्डित और अखंडित पाषाण प्रतिमायें तथा वहाँ के जिनमंदिर अपना इतिहास कह रहे हैं तथा जिनदेवों के गढ़ के रूप में देवगढ़ नाम को सार्थक कर रहे हैं।

वर्तमान में क्षेत्र की छटा दर्शनीय है। कुशल कारीगरों, समर्पित कार्य-कर्ताओं और अनुभवी व्यक्तियों के निर्देशन तथा संरक्षण में तीर्थ सुरक्षित तो हैं ही, विकासशील भी है।

देवगढ़ पहाड़ी प्रदेश पर स्थित सुरम्य, प्राकृतिक सम्पदा और सौन्दर्य से सम्पन्न, मानवीय कोलाहल से दूर एकदम शान्त और एकान्त साधु-संतों के ध्यान व अध्ययन के लिए उपयुक्त स्थान है।

वहाँ विद्यमान वीतराग मुद्रा युक्त मूर्तियों के दर्शनों से श्रद्धावान श्रावकों और साधकों की कर्मनिर्जरा तो होती ही है, आध्यात्मिक चेतना भी जागृत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान वहाँ के जैन समाज ने कभी साधु-संतों, ब्रती-ब्रह्मचारियों और घर-परिवार से निवृत्ति लेकर धर्म साधना करनेवालों के लिए ही बनाया होगा, जिसने धीरे-धीरे समय के अनुसार उतार-चढ़ावों को देखते हुए आज यह रूप ले लिया है।

सहज संयोग से वहाँ की वंदना करने के लिए एक मुनिसंघ का शुभागमन हुआ, चातुर्मास का समय निकट था, धर्मसाधना की दृष्टि से स्थान और वातावरण उन्हें अनुकूल लगा। अतः मुनिसंघ ने वहाँ ही चातुर्मास की स्थापना करने का निश्चय कर लिया।

मुनिसंघ के चातुर्मास करने के समाचार सुनकर हर्ष से ओत-प्रोत आसपास के सहस्रों श्रावकों का मन मयूर नाच उठा, उस क्षेत्र के सम्पूर्ण जैन समाज में हर्ष छा गया। सभी ने संकल्प किया कि 'हम संघ द्वारा दिए गए तत्त्वोपदेश का भरपूर लाभ लेंगे।' जाखलोन जैन समाज के तो मानो भाग्य ही जाग गये। देवगढ़ के निकट होने से उन्हें साधु संघ से प्रवचन सुनने को तो मिलेंगे ही, आहारदान देने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा। उन्होंने सोचा हमारे भाग्य से जब ज्ञानगंगा घर आ ही गई है तो इसमें स्नान कर विषय-कषाय की तपन बुझाकर शीतलता प्राप्त क्यों न करें?"

यद्यपि दिगम्बर जैन मुनि एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते; क्योंकि जिस स्थान पर अधिक ठहरेंगे तो वहाँ के व्यक्तियों से उनके रागात्मक संबंध बन जाने की संभावना हो जाती है, जो मुनि भूमिका में अभीष्ट नहीं है। जिस राग का त्याग करने के लिए उन्होंने घर-कुटुम्ब-परिवार छोड़ा है, वही राग की आग सुलगने लगे - ऐसा मौका ही वे क्यों दें? अतः वे एकान्त में, निर्जन स्थान में रहना ही पसंद करते हैं।

फिर भी बारिश की ऋतु में जीवराशि की प्रचुर उत्पत्ति के कारण

अहिंसा व्रत की रक्षार्थ उन्हें एक ही स्थान पर रुकना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे श्रावकों के सम्पर्क में कम से कम रहने का प्रयत्न करते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि समाज और श्रावक समस्याओं के पुंज होते हैं। वे सोचते हैं "सन्तों से हमें हमारी समस्याओं का समाधान अवश्य मिलेगा" इसकारण वे बड़ी आशा लेकर सन्तों के पास पहुँचते हैं और उनके प्रभाव का लाभ लेना चाहते हैं; परन्तु इससे मुनिराजों के समय का दुरुपयोग तो होता ही है, उपयोग भी खराब होता है - यह बात मुनिराज भी भलीभांति समझते हैं, अतः वे श्रावकों से दूर ही रहना चाहते हैं। इसीकारण वे नगर से दूर, नसिया, वसतिका आदि में ठहरते हैं। प्राचीन काल में ये स्थान श्रावकों द्वारा साधु-सन्तों के निमित्त ही बनवाये जाते थे।

यद्यपि वहाँ उपवन में वन जैसा ही वातावरण होने से उन्हें डांस-मच्छर खाते हैं, पर वे परीषहजयी तो होते ही हैं, साथ में यह भी सोचते हैं कि "यहाँ डांस-मच्छर तो शरीर को ही खाते हैं, पर नगरों में तो ये मानव माथा खाते हैं, उपयोग खराब करते हैं, अतः इनसे दूर निर्जन स्थान में रहना ही श्रेष्ठ है।"

मुनिराजों के ठहरने का स्थान वही सर्वोत्तम होता है जो नगर या ग्राम से न अति दूर हो और न अति निकट, ताकि उन्हें आहार हेतु कठिनाई न हो तथा जिज्ञासु जीवों को संघ के सान्निध्य में उपदेश का लाभ लेने में भी कठिनाई न हो। मातायें, बहिनें और वृद्ध लोग सरलता से पहुँच सकें।

मुनिराज मात्र आहार के निमित्त नगर में आते हैं, उस समय भी सिंहवृत्ति से मौन लेकर आते हैं और नवधा भक्ति से पड़गाहन के बाद निर्दोष विधिपूर्वक खड़े-खड़े आहार लेकर चले जाते हैं। किसी से किसी भी प्रकार की कोई बातें नहीं करते।

हाँ, यदा-कदा करुणाबुद्धि से तत्त्वोपदेश देते हैं, उसमें भी कोई लौकिक चर्चा नहीं करते। तत्त्वोपदेश भी अपनी सभी दैनिक चर्चा-सामायिक आदि को निर्बाध रूप से यथासमय सम्पन्न करते हुए सुविधानुसार ही करते हैं। मुनिराज श्रावकों के किन्हीं भी आयोजनों में समय पर पहुँचने के लिए श्रावकों से वचनबद्ध नहीं होते।

मुनिसंघ का देवगढ़ में चातुर्मास होने से आसपास के सभी श्रावक आशान्वित हुए कि अब हमें चार माह तक मुनिराजों के दर्शन तो मिलेंगे ही, धर्मोपदेश का लाभ भी प्राप्त होगा। एक बुजुर्ग व्यक्ति ने सलाह दी कि “हमें संघ से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि वे हमें देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप समझायें, क्योंकि इन विषयों के विषय में समाज अधिक भ्रमित है। जैन होने के कारण समाज सदाचारी तो है, विद्वान भी सदा अष्ट मूलगुणों के धारण करने, सात व्यसनों के त्याग करने, रात्रि भोजन न करने के लाभों से परिचित कराते ही रहते हैं, देवदर्शन-पूजन करने की प्रेरणा भी मिलती रहती है, परन्तु तत्त्वोपदेश मिलना संभव नहीं होता।”

यह सब सोचकर समाज ने मुनिसंघ से तत्त्वोपदेश और देव-गुरु के स्वरूप को समझाने की प्रार्थना की, क्योंकि ये ही सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, मोक्षमार्ग के साधन हैं तथा समाज इनसे अनभिज्ञ भी है।

आचार्यश्री ने श्रावकों की जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम वीतरागी सर्वज्ञ देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु के स्वरूप को समझाने का आश्वासन दिया। सभी उपस्थित लोग मुनि संघ की वन्दना कर हर्षित होते हुए अपने-अपने घर चले गये।

अगले दिन प्रवचन शृंखला का शुभारंभ करते हुए आचार्यश्री ने स्वयं अपने मंगल प्रवचन के साथ चातुर्मास की विधिवत् स्थापना की तथा प्रथम दिन देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप और साधना पर प्रवचन देते हुए कहा - “तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने देवागम स्तोत्र<sup>१</sup> में तीर्थंकर भगवान को भी बिना समझे नमस्कार नहीं किया। अतः हम सभी को भी देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करने के पहले उनके स्वरूप को भलीभांति समझना होगा। देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप की यथार्थ पहिचान के बिना मात्र लौकिक कामना की पूर्ति की भावना से पूजा करने से गृहीत मिथ्यात्व जैसा महा पाप लगता है; क्योंकि उनको जाने बिना हम उन्हें पतित पावन,

अधम-उधारक, सुख का कर्ता और दुःख का हर्ता तथा अपनी सभी लौकिक-अलौकिक-पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति करनेवाला मान लेते हैं, जबकि वे वीतरागी हैं, पर के कर्तृत्व की भावना से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। इसकारण वे किसी का न भला करते हैं और न बुरा करते हैं।

जीवों का भला-बुरा होना और उनकी लौकिक कामनाओं की पूर्ति होना न होना तो उनके पुण्य-पाप कर्म के आधीन है।

देखो, वीतराग देव को पर के सुख-दुःख का दाता, भले-बुरे का कर्ता मानने से अरहंत देव का अवर्णवाद भी होता है, जो दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) के बंध का कारण है। अतः पूजा करने के पहले पूज्य, पूजा, पूजक और पूजा के फल को भलीभांति समझना होगा।”

आचार्यश्री ने आगे कहा - “देखो, पूजा त्रिमुखी प्रक्रिया है। त्रिमुखी प्रक्रिया का अर्थ है। पूजा में तीन अंग मुख्य है। १. पूज्य परमात्मा, जिसकी पूजा की जाती है, २. पूजक, जो पूजा करता है, ३. पूजा की क्रिया/ प्रक्रिया। इन तीनों के विषय में प्रथम तो यह जानना जरूरी है कि पूज्य कैसा है, कौन है, वह क्या कर सकता है? दूसरे, पूजा की विधि क्या है? पूजा का उद्देश्य क्या है? पूजन की सामग्री कैसी हो? पूजा का फल क्या है? आदि।

तीसरे, पूजक किस प्रयोजन से पूजा करता है, पूजा में जो कुछ वह बोलता है, उसका भावार्थ समझता है या नहीं? वह वीतराग देव के सामने खड़ा होकर पूजा के फल में क्या मांगता है? और उसे वस्तुतः क्या फल चाहिए। यदि इन सब प्रश्नों के उत्तर उसे आगम और युक्ति के अनुकूल मिलते हैं, तब तो उसकी पूजा सही है, अन्यथा कोरा अरण्य रुदन है, जैसे निर्जनवन में कोई रुदन करें, आँसू बहाये तो उसे वहाँ उसके कष्ट को कौन सुनने वाला है? इसी तरह वीतराग भगवान के सामने कुछ भी कहो, उन पर क्या प्रतिक्रिया होने वाली है? कुछ भी नहीं। तथा बिना समझे वह पूजक पुण्य के बजाय पापार्जन ही करता है। आज इतनी ही, शेष अगले प्रवचन में।

ॐ नमः।



आज के प्रवचन को प्रारंभ करने के पहले आचार्यश्री ने पिछले प्रवचन के विषय की याद दिलाते हुए श्रोताओं से प्रश्न किए तथा सभी से संतोषजनक उत्तर पाकर आचार्यश्री बहुत प्रसन्न हुए तथा संक्षेप में उत्तरों की अपने मुख से पुनरावृत्ति करते हुए उन्होंने कहा - “देखो, जिनेन्द्र देव वीतराग होने से किसी के सुख-दुःख के कर्ता-हर्ता नहीं हैं। सर्वज्ञ होने से वे जानते सब कुछ हैं, पर करते कुछ नहीं हैं। हाँ, जो उनकी निष्काम भक्ति करते हैं, उन्हें स्वयं ही ऐसा सातिशय पुण्यबंध होता है और उसके पापों का क्षय होता है, जिससे उन्हें लौकिक और पारलौकिक सुख सहज ही प्राप्त हो जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी स्वयंभू स्तोत्र में यही कहा है -

“न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।  
तथापि ते पुण्य गुणस्मृति नः पुनाति चित्तं दुरितान जनेभ्यः ॥”

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अतः उन्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है तथा बैर रहित हैं, अतः निन्दा से भी कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है।”

परमात्मा के संदर्भ में आचार्यश्री ने अरहंत पद प्राप्त करने की प्रक्रिया के द्वारा अरहंत का स्वरूप समझाते हुए कहा - “जिन्होंने गृहस्थपना छोड़, मुनिधर्म अंगीकार कर निज स्वभाव साधन द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख व अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर लिया, वे अरहंत हैं।”

अरहंत देव के स्वरूप में वीतरागता और सर्वज्ञता - ये दो गुण मुख्य हैं। इन्हें अच्छी तरह समझने से ही हमारी पर कर्तृत्व व भोक्तृत्व की

मिथ्या मान्यता खण्डित हो जाती है। सर्वज्ञ एवं वीतरागी अरहंत भगवान का यथार्थ ज्ञान होने से हमें ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि -

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे ।  
अनहोनी होसी नहीं कबहूँ, काहे होत अधीरा रे ॥  
समयो एक घटे नहीं बढती, जो सुख-दुःख की पीरा रे ।  
तू क्यों सोच करे मन मूरख, होय वज्र ज्यों हीरा रे ॥

ऐसी श्रद्धा से एवं प्रतिदिन पूजा के माध्यम से सर्वज्ञता के स्वरूप का बार-बार चिन्तन होने से यह श्रद्धान दृढ हो जाता है कि ‘हमारा जो होनेवाला है, उसे इन्द्र और जिनेन्द्र भी टाल नहीं सकते।’ तो फिर आर्तध्यान कर पाप क्यों बाँधें? ऐसे सोच से हमारी अधीरता (बैचेनी) कम हो जाती है, हम शान्त निराकुल हो जाते हैं। अतः हमें प्रतिदिन पूजा तो करना ही है, परन्तु उसका स्वरूप समझकर करनी है। बिना समझे कोरी क्रिया से हमें पूजा का कोई लाभ नहीं होगा। सही तरीके से पूजा-भक्ति करने से उनके गुणों को पहिचानकर एक दिन हम स्वयं भी अरहंत बन सकते हैं, परन्तु अरहंत बनने के पहले निर्ग्रन्थ होना जरूरी है।

एक श्रोता ने आचार्यश्री से आज्ञा लेकर विनयपूर्वक विनम्र शब्दों में प्रश्न किया - “गुरुवर ! ‘प्रभु पतित पावन’ स्तुति में भी तो अरहंत भगवान को ‘पतित पावन’ और स्वयं को ‘अपावन’ कहा है, यदि ऐसा मानना मिथ्या है तो इस स्तुति को मान्य क्यों किया गया ?

आचार्यश्री ने समाधान करने के पहले उसी श्रोता से पूछा - “क्या वीतरागी अरहंत भगवान पतितों को पावन कर सकते हैं ? यदि कर सकते हैं तो आदिनाथ ने अपने पोते मारीचि को एक कोड़ाकोड़ी सागर तक संसार में चतुर्गति का दुःख भोगने को क्यों छोड़ा ? क्या अपने सगे पोते पर इतनी भी करुणा नहीं आई ? वे कैसे करुणा सागर थे, अधम उधारक थे ? अरे भाई, वास्तव में तो यह ईश्वरवादियों की मान्यता है। वे ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार तो सृष्टि स्व संचालित

है, आटोमेटिक है। यह अनादि-अनंत हैं, इसे न किसी ने बनाया है और न कोई इसका विनाश करता है।”

श्रोता ने पुनः साहस करके पूछा - “तो उस स्तुति का क्या अर्थ है ?”

आचार्यश्री ने कहा - “अरे भाई ! वहाँ तो कवि भगवान महावीर स्वामी से यह कह रहा है कि “हे प्रभो ! आप पतित से पावन बन गये हो, मारीचि से महावीर बन गये, शेर से सन्मति बन गये, भक्त से भगवान बन गये हो।” यह अर्थ तो है ‘प्रभु पतितपावन’ वाक्य का और ‘मैं अपावन’ वाक्य का अर्थ है कि “मैं अभी भी रागी-द्वेषी व अज्ञानी हूँ, संसारी हूँ, दुःखी हूँ; अतः मैं आप की शरण में यह जानने आया हूँ कि आप पतित से पावन कैसे बने? भक्त से भगवान कैसे बने ? मैं भगवान कैसे बनूँ ? यह जानने के लिए आपके चरणों की शरण में आया हूँ? आप मुझे यह बताइए। यह मुझे मालूम है कि आप तो पूर्व पर्यायों में मुझसे भी गये-बीते थे, जब आप भगवान बन सकते तो मैं क्यों नहीं?”

तब भगवान ने मौन रहते हुए मानो अंग-अंग से उत्तर दिया - “तू मेरी तरह निश्चल बैठकर नाशाग्र दृष्टि करके अन्तर्मुख ध्यानस्थ होकर अपने स्वरूप की पहिचान कर, तू अभी भी स्वभाव से तो कारण परमात्मा है ही, उसकी श्रद्धा एवं ध्यान से तू पर्याय में भी कार्य परमात्मा बन जायेगा।

तथा ऐसा विचार कर कि - “मैंने पूर्व में जैसे पुण्य या पाप रूप कर्म किए हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल मुझे अब प्राप्त हुआ है और यदि अब भी नहीं चेता तो आत्मा की पर्यायों से भी यही दुर्गति होगी। यदि दूसरों के द्वारा दिया फल मुझे मिले, तब तो मेरे किए पुण्य-पाप सब निरर्थक सिद्ध होंगे।” तात्पर्य यह है कि जीव अपने पुण्य-पाप का फल ही भोगता है। कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता।

यह सुनकर सभी श्रोता गद्गद् हो गये। सबको ऐसा लगा - “अरे ! हमने यह तो कभी सोचा ही नहीं था और सुना भी नहीं था कि भगवान किसी का भला नहीं करते, कर भी नहीं सकते; क्योंकि जैनधर्म के

अनुसार भगवान तो जगत के अकर्ता हैं और सब जीव अपने पुण्य-पाप और धर्म का ही फल पाते हैं। कहा भी है -

**स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभं ।  
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥**

जैन दर्शन के अनुसार अरहंत भगवान को पतितों को पावन करने वाला नहीं मान सकते; क्योंकि अरहंत भगवान तो मात्र ज्ञाता होते हैं, कर्ता नहीं।

कोई कहेगा कि व्यवहार से तो कह सकते हैं। उससे कहते हैं कि ऐसा कहना व्यवहार है, पर ऐसा ही मान लेना मिथ्यात्व है। व्यवहार से कहने का कोई खास अर्थ नहीं होता। जब हम किसी को अपना घर दिखाते हैं एवं बच्चों से परिचय कराते हैं तो उससे ऐसा कहते हैं कि ये घर आपका ही है, ये बच्चे भी आपके ही हैं, सुननेवाला भी समझता है कि मुझे सम्मान देने को ऐसा कह रहा है। वह ऐसा ही नहीं मान लेता कि यह घर व बच्चे मेरे हैं।”

पण्डित टोडरमलजी देवभक्ति के अन्यथा स्वरूप में कहते हैं - “उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम उधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानता है; उसी प्रकार यह अरहन्त को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त तो निमित्तमात्र हैं, इसलिये उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं।

तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिये उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है। परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ।

कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए - उनसे पूर्व पाप के संक्रमणादि कैसे होंगे? इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।<sup>३</sup>”

पंचास्तिकाय में कहा है कि - “यह भक्ति केवल भक्ति ही है, प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीव के होती है। तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या अस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती हैं।<sup>३</sup>”

परन्तु भक्ति में उपचार से कभी कदाचित् अरहंत को सुख का दाता और दुःख का हर्ता कह देते हैं, उसके कहने का अर्थ मात्र इतना है कि जब भक्त मंद कषाय और शुभभावों से स्वयं ही पुण्य बांध कर अनुकूल फल प्राप्त करता है तो उसे ही भगवान की भक्ति का फल कह देता है; परन्तु मानता यही है कि फल अपने परिणामों का ही मिलता है, भगवान उसके कर्ता नहीं है।

**एक श्रावक ने पूछा कि** - “यदि ऐसा है तो फिर भगवान को पूज्य कहने का क्या प्रयोजन रहा? और हम भगवान की पूजा-भक्ति क्यों करें?”

**उत्तर मिला** - “पूजन के मुख्यतः दो ही प्रयोजन हैं - एक पापों से बचना और दूसरा परमात्मपद प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना।

पहला प्रयोजन तो इस तरह पूरा हो जाता है कि जब तक अरहंत व सिद्ध परमात्मा हमारे ध्यान में विचरेंगे; तब तक पाँचों पाप, पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं राग-द्वेषादि मनोविकार हमारे ध्यान में आ ही नहीं सकेंगे; क्योंकि ध्यान में परमात्मा और पाप एक साथ नहीं ठहरते।

क्षेत्र व काल की अपेक्षा भी जिन मन्दिर में और पूजा-पाठ करते समय हम विषय-कषाय के वातावरण से अछूते ही रहते हैं; क्योंकि मन्दिर की मर्यादित सीमा में विषय-विषधर प्रवेश नहीं पाते। इस कारण मन्दिर में पाप करने का कोई प्रसंग नहीं बनता।

दूसरा प्रयोजन परमात्मा बनने का है, वह प्रयोजन भी परमात्मा के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने-पहचानने से, उसी में चित्त को रमाने से पूरा हो जाता है। कहा भी है -

“जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।<sup>४</sup>”

जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वह निश्चय से अपने आत्मा को जानता ही है और उसका मोह नियम से नष्ट हो जाता है।

जब तक परिपूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण पवित्रता की प्राप्ति अपने जीवन में नहीं हो पाती, तबतक न चाहते हुये भी शुभभावों के रहने से ज्ञानी धर्मात्माओं को भी सातिशय पुण्यबंध सहज ही होता रहता है, जिसके निमित्त से लौकिक अनुकूलतायें भी बनी ही रहती हैं।

अन्य अज्ञानी जीवों के भी यदि पूजा करते समय मंद कषाय हुई तो उतनी देर पापों से निवृत्ति के कारण उन्हें भी यथायोग्य पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। यदि किसी के मन में लौकिक कामना की तीव्र कषाय रही तो पूजा जैसे पवित्र कार्य करते हुए भी पापबंध भी होता है; क्योंकि पुण्य-पाप बंध भी तो भावों से ही होता है। कहा भी है -

बन्ध-मोक्ष परिणामनि ही सों, कहत सदा ये जिनवर वाणी।

इसप्रकार आज पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा के प्रयोजन तथा उसके फल के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। इन विषयों को जानकर पहचानकर उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। आज इतना ही, शेष अगले प्रवचन में।

ॐ नमः । ●

१. पूजन संबंधी विशेष जानकारी हेतु देखें लेखक की लोकप्रिय कृति जिनपूजनरहस्य।

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२२२

३. गाथा १३६ की टीका पंचास्तिकाय

४. प्रवचनसार गाथा ८०



एक श्रावक ने नग्न दिगम्बर साधु के दर्शन एवं उनके प्रवचन सुनते ही उनके प्रति भक्तिभाव से अभिभूत होकर मन में सोचा - “महाभाग्य से आज मुझे ऐसे तत्त्वज्ञानी मुनिराज के दर्शन हुए हैं। क्यों न इनसे ही आत्मानुभूति का उपाय पूछ लूँ? ये तो क्षण-क्षण में आत्मावलोकन करते ही हैं। इस विषय को इनसे अच्छी तरह और कौन समझा सकता है?”

फिर क्या था, उसने तत्काल ही हर्षित होकर मुनिराज से कहा - “हे गुरुदेव ! आपके अन्तर में रत्नत्रय से परिणत जैसा आत्मा विराज रहा है, कृपया मुझे भी वह बताइये, ताकि आप जैसी आत्मानुभूति मुझे भी हो सके। मैं भी आप जैसा निर्ग्रन्थ बनकर आत्मकल्याण कर सकूँ।”

मुनिराज श्री ने श्रावक की हार्दिक भावना और जिज्ञासा जानकर प्रसन्नता प्रगट की और कहा - “भाई! आत्मानुभूति के लिए पहले **वस्तु स्वातंत्र्य** को समझना होगा, फिर **पर के कर्तृत्व** के भार से निर्भर होने पर उपयोग स्वतः अन्तर्मुख होने लगेगा। पहले आगम के अभ्यास से युक्तियों के अवलम्बन से एवं परम्परा गुरु के उपदेश से अपने में परिपूर्ण, पर से अत्यन्त निरपेक्ष ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की प्रतीति होगी, श्रद्धा होगी; फिर उसमें एकाग्र होने पर अपने आत्मा में ही कारण परमात्मा से स्वतः भेंट हो जायेगी। इसप्रकार स्वरूप में क्षणिक उपयोग स्थिर होने पर चिदानन्द चैतन्य आत्मा से, कारण परमात्मा से भेंट हो जाती है। इस प्रक्रिया में समस्त सांसारिक क्लेश की जड़ें हिल जाती हैं। यह सब काम चौथे गुणस्थान में हो जाता है। तत्पश्चात् पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यान क्रोधादि के अभाव में एकदेश संयम होता है, जिसमें क्षुल्लक, ऐलक तक की भूमिका हो जाती है। तत्पश्चात् मुनि भूमिका में आने पर तो क्रोधादि कषायों की तीन चौकड़ी कषाय के अभाव से सब सांसारिक क्लेश जड़ मूल से उखड़ जाते हैं और मुनि क्षण-क्षण में आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का रस पीने लगते हैं। इस सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान

कहलाता है और इसी में जमने-रमने का नाम ‘निश्चय सम्यक् चारित्र’ है। इन्हीं तीनों का एक नाम रत्नत्रय है। ऐसे निश्चय रत्नत्रय के धारी व्यक्ति का बाह्य आचरण व्यवहार चारित्र कहलाता है।

एतदर्थ तुम अभी घर में रहकर ही कुछ दिनों नियमित स्वाध्याय करो। सात व्यसनों की प्रवृत्ति छोड़ो, श्रावक के आठ मूलगुणों का पालन करो। स्वाध्याय से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का, सात तत्त्वों का तथा स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभव की प्रक्रिया का ज्ञान होगा। पाँच पापों का स्थूल त्याग होगा, तभी मुनि बनने की योग्यता का विकास होगा, ऐसी योग्यता विकसित होने पर ही मुनिव्रत लेना उचित है।

मुनि की उक्त भूमिका में अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत, ईर्या-भाषा-ऐषणा आदि पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रिय विजय, षट् आवश्यक तथा अदन्तधोवन, अस्नानव्रत, भूमि शयन, केशलोच, नग्नता, एक बार खड़े रहकर आहार लेना - ये शेष सात गुण मिला कर कुल २८ मूलगुणों का निर्दोष पालन सहज होने लगता है। इनके अतिरिक्त मुनिराज की भूमिका में अनेक उत्तर गुणों का पालन सहज होने लगता है। उन उत्तर गुणों में कुछ इसप्रकार हैं। जैसे वे क्षुधा-तृषा आदि २२ परिषह जीतते हैं, उपसर्ग सहते हैं, १२ प्रकार के तप करते हैं। उत्तमक्षमा आदि १० धर्मों की आराधना एवं १२ भावनाओं का चिन्तन निरन्तर करते हैं।

इसप्रकार चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता द्वारा जो मुनि मुक्ति की साधना करते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं। उनको प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में आत्मानुभव होता है।

ऐसे साधु होने की पूर्व भूमिका में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तत्पश्चात् अन्तर में विशेष वैराग्यपूर्वक, सर्वसंग त्यागी होकर, अन्तरस्वभाव में एकाग्रता के उग्र पुरुषार्थ द्वारा चारित्र दशा प्रगट करके मुनि होते हैं। ऐसे भावलिंग सहित द्रव्यलिंगी मुनि हुए बिना मुक्ति नहीं होती। अतः अंततः मुनिपद तो लेना ही होगा, किन्तु सम्यग्दृष्टि अपनी शक्ति और श्रद्धा को विचार कर विवेकपूर्वक ही मुनिव्रत लेते हैं, भावुकता में जल्दी नहीं करते। भावलिंग के साथ जो दिगम्बरत्व होता है, वही

सच्चा द्रव्यलिंग है। ध्यान रहे, 'द्रव्यलिंगी' शब्द कोई अपशब्द नहीं है। भावलिंग के साथ द्रव्यलिंग तो अनिवार्य है ही।

आचार्यश्री ने आगे कहा - "अहा ! मुनिपद तो अलौकिक पद है, मुनिराज पंचपरमेष्ठी पद में विराजमान हैं। अतः मुनि पद ग्रहण कर्ता की बड़ी भारी जिम्मेदारी है। एतदर्थ आचार्यों ने मुनि के स्वरूप को समझाते हुए अपने-अपने संघों के मुनियों को बहुत सावधान किया है।

श्रावक ने आचार्यश्री का महान उपकार मानते हुए संकोच के साथ निवेदन किया - "गुरुदेव ! आपने जो मुनि के आचरण संबंधी मूलगुणों एवं उत्तर गुणों की चर्चा की और उन्हें मुनि को निर्दोष पालन करना अनिवार्य बताया सो क्या इस पंचमकाल में और हम जैसे हीन संहननवालों से मुनि धर्म का निर्दोष निर्वाह संभव है ? मैं इसे धारण कर सकता हूँ ? आपने जो विधि बताई, मैं उस विधि पूर्वक ही मुनि बनूँ - ऐसी मेरी भावना है।"

आचार्यश्री ने समाधान किया - "हे भव्य ! तेरी भावना उत्तम है, शास्त्रों के कथनानुसार पंचम काल के अन्त तक भी भावलिंगी मुनि होते रहेंगे। अतः तू निराश मत हो। तेरी भावना अवश्य पूरी होगी। परन्तु इस बात का ध्यान रख कि - 'सत्य को समझने की जरूरत है। सत्य में समझौता और समन्वय संभव नहीं है। अतः मुनिपद जैसा ऊँचा पद लेकर शिथिलता संभव नहीं है। मुनिपद न लेने का अल्पदोष है और मुनिपद लेकर शिथिल होना बड़ा अपराध है, पापबंध का कारण है। अतः जल्दी मत कर ! अपनी शक्ति को देख कर जितना निभ सके, उतना अवश्य कर !

तीसरी बात यह है कि जो जिस काम को करने का संकल्प कर लेता है, ठान लेता है, वह उस काम को कर गुजरता है और वह उसमें उग्र पुरुषार्थ से सफल भी होता है।

चौथी मुख्य बात यह है कि - आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार, नियमसार एवं अष्टपाहुड़ में जो निर्देश दिए हैं, वे सब पंचमकाल के मुनियों के लिए ही दिए हैं। अतएव आचार्यों ने मुनि के यथार्थ स्वरूप को समझने हेतु आगम में मुनि के स्वरूप का कथन परवर्ती होनेवाले

मुनिराजों के लिए ही किया है।

मुनिराज तो उसे पढ़ते ही हैं, गृहस्थ भी मुनिपद की महिमा से परिचित हों, एतदर्थ वे भी प्रस्तुत विषय को समझने का प्रयास अपनी मर्यादा में रह कर करते हैं।

अतः मुनिव्रत लेकर शिथिलता के कारण गृहस्थों द्वारा आलोचना के पात्र बनना निन्दनीय भी है और पापबंध का कारण तो है ही।

मुनि के भावलिंग की प्रमुखता बताते हुए कुन्दकुन्द ने कहा है - "मुनियों के भावलिंग प्रमुख होता है, इसीलिए हे भव्य ! तुम भावलिंग को पहिचानो; क्योंकि गुण और दोषों का कारणभूत भावलिंग ही है।

बाह्य परिग्रह आदि का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है; परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह रागादिक हैं, रागादिक के सद्भाव में बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है तथा अभ्यन्तर रागादि छूटने पर बाह्य परिग्रह तो स्वतः छूट ही जाता है।

जन्म-जन्मान्तरों में कोड़ाकोड़ि काल तक हाथ लम्बे लटकाकर वस्त्रादिक का त्याग करके तपश्चरण करे, तो भी भावरहित को सिद्धि नहीं होती है। इसलिए कहा है कि - हे शिवपुरी के पथिक ! प्रथम मुनि भाव को जान, भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है ?"

श्रावक एवं साधुधर्म का समन्वय करते हुए कुन्दकुन्द ने कहा है कि-

“दाणं पूजा मुखं सावयधम्मो ण तेण विणा ।

झाणाझयणं मुखं जइधम्मं ण तं विणा तहा सो वि ॥

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो ।

अणवरयं धम्मकहापसंगादो होइ मुणिराओ ॥

दान व पूजा के बिना श्रावक धर्म नहीं होता; और ध्यान व अध्ययन साधुओं को प्रधान है, इनके बिना यतिधर्म नहीं होता।

जो मुनिराज सदा तत्त्वविचार में लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग की आराधना करना जिनका स्वभाव है और जो निरन्तर धर्मकथा में लीन रहते हैं अर्थात् यथावकाश रत्नत्रय की आराधना व धर्मोपदेशादिरूप दोनों प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, वे यथार्थ मुनि हैं।"

“जो सदा ज्ञान व दर्शन में प्रतिबद्ध रहते हैं और बाह्य में मूलगुणों में प्रयत्नशील होकर विचरण करते हैं, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।”



‘धर्म से परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है; इसलिए शुभोपयोगी भी धर्म का सद्भाव होने से श्रमण हैं, किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के समान कोटि के नहीं हैं; क्योंकि शुद्धोपयोगी निरास्रव ही है और शुभोपयोगी कषाय कण के विनष्ट न होने से सास्रव हैं।’<sup>१</sup> बनारसीदासजी ने मुनि की महिमा में कहा है कि -

ग्यान कौ उजागर, सहज-सुखसागर ।

सुगुन-रतनागर, विराग-रस भस्यो है ॥

सरन की रीति हरै, मरन कौ न भै करै ।

करन सौं पीठि दे, चरन अनुसस्यो है ॥

धरम कौ मंडन, भरम को विहडन है ।

परम नरम ह्वै कै, करम सौं लस्यो है ॥

ऐसौ मुनिराज, भुविलोक में विराजमान ।

निरखि बनारसी, नमस्कार कस्यो है ॥५॥

अर्थात् जो ज्ञान के प्रकाशक हैं, साहजिक आत्मसुख के समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नों की खान हैं, वैराग्य-रस से परिपूर्ण हैं, किसी का आश्रय नहीं चाहते, मृत्यु से नहीं डरते, इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्म की शोभा है, जो मिथ्यात्व का नाश करनेवाले हैं, जो कर्मों के साथ अत्यन्त शान्तिपूर्वक लड़ते हैं; ऐसे साधु को पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।<sup>५</sup>”

इतना कहकर आचार्यश्री ने आज के प्रवचन को विराम दे दिया ।

आचार्यश्री का मुनिधर्म साधन की प्रक्रिया से संबंधित सारगर्भित सामयिक प्रवचन सुनकर सम्पूर्ण सभा आनन्दित और गद्गद् हो गई । अन्त में जिनवाणी की स्तुति के साथ धर्म सभा विसर्जित हुई । ●

१. भावपाहुड, गाथा २,३,४ एवं ६

२. रयणसार, गाथा १९, १९

३. प्रवचनसार गाथा ११ एवं २४५ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

४. प्रवचनसार, गाथा २१४

५. नाटक समयसार, छन्द-५



“यद्यपि मुनिमार्ग अत्यन्त स्वाधीन, स्वतंत्र और परनिरपेक्ष होता है, फिर भी करुणा की साक्षात् मूर्ति होने से दुःखमय संसार सागर में गोते लगाते हुए जीवों को दुःखी देखकर मुनिराजों को सहज ही ऐसी करुणा आती है कि इतने अनुकूल संयोगों में भी यदि तत्त्वज्ञान इनके हाथ नहीं लगा तो फिर पुनः यह दुर्लभ अवसर मिलना सहज नहीं है। अतः अपने ध्यान-अध्ययन में से थोड़ा सा समय इन्हें दे दिया जाय और हमारे निमित्त से इनका भला हो जाय तो मेरा (छठवें गुणस्थान की) भूमिका में इससे बढ़ कर और कोई करने योग्य कार्य नहीं है। ज्ञानदान ही सबसे बड़ा दान है।” यह सोच-सोच कर आचार्य स्वयं भी तत्त्वोपदेश देते हैं और अन्य उपाध्याय वर्ग से भी प्रवचन करने की प्रेरणा करते हैं, आदेश देते हैं।

भव्य जीवों के भाग्य से आचार्यश्री ने अपने उपदेश को प्रारंभ करते हुए दिगम्बर मुनि के स्वरूप और चर्या के संबंध में कहा -

“लोकोत्तर मोक्ष सुख का साक्षात् साधन सम्यक्त्व सहित दिगम्बर मुनिपना ही है। णमोकार महामंत्र के ‘णमो लोए सव्व साहूणं’ पद द्वारा मुनि को पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित कर नमन किया गया है। ये वीतराग पथ के पथिक हैं। आत्मा की साधना एवं कारण परमात्मा की आराधना ही परमात्मपद प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। अतः सभी इस दिशा में अग्रसर हों - ऐसी हमारी भावना है।”

“दिशायें ही हैं अम्बर जिनके ऐसे दिगम्बर ‘शब्द’ को सार्थक करनेवाले मुनिराज आरंभ और परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं। ‘पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर सम्पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करनेवाले मुनिराज चारों कषायों के भी विजेता होते हैं। तपस्वी साधु निरन्तर ज्ञान, ध्यान और तप में ही लीन रहते हैं।<sup>१</sup>”

मुनिराजों को पापभावरूप विकथार्ये करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। 'मुनिराज तो शास्त्रों की व्याख्यायें करने, शास्त्र लिखने, दीक्षा एवं उपदेशादि देने से भी बचते हैं। इनकी दैनिक चर्या में इन कार्यों के कोई निर्धारित कार्यक्रम नहीं होते। ये तो सदैव ज्ञान-ध्यान में ही रहना चाहते हैं।'<sup>२</sup> कदाचित् दुःखी संसारी तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ जिज्ञासु जीवों पर करुणा भाव आ जावे तो प्रवचन आदि शुभ क्रियायें करते तो हैं, किन्तु इन्हें हेय मानते हैं - ऐसा गजब का स्वरूप होता है दिगम्बर साधुओं का!

ऐसे ज्ञानी-ध्यानी चलते-फिरते सिद्धों जैसे साधुओं को देख कर उनकी वन्दना के लिए, किसका मस्तक श्रद्धा से नहीं झुक जायेगा? और किसकी श्रद्धा समर्पित नहीं होगी उनके चरणों में?

मुनिराजों की बातचीत, उनका खान-पान, चलना-फिरना, उठना-बैठना, संयम और ज्ञान के उपकरणों का उठाना-धरना तथा मल-मूत्र, कफादि का क्षेपण करना भी इतना निर्दोष और विवेक पूर्वक होता है कि जिससे द्रव्य हिंसा का तो प्रश्न ही नहीं होता, किसी व्यक्ति विशेष से अनुराग न होने से रागादि रूप भावहिंसा भी नहीं होती।

मुनिराजों की एक-एक क्रिया और उनकी दिनचर्या की महिमा का बखान करना असंभव नहीं तो कठिन तो है ही।

“जगत मुनि के अन्तर्बाह्य स्वरूप से सुपरिचित हो, उनके तप-त्याग और आत्मसाधना को भलीभांति जानकर उनका अनुसरण करके अपना कल्याण करे, मुनिराज की प्रत्येक धार्मिक क्रिया के आयोजनों का प्रयोजन जानकर सही दिशा में धर्माचरण करें” - इस पावन उद्देश्य से दिगम्बर मुनि की एक-एक आदर्श क्रिया और उनके द्वारा प्रतिपादित वीतरागतावर्द्धक उपदेशों की चर्चा भी अपेक्षित है। अन्यथा जगत जन सन्मार्ग से भटक सकते हैं।

“दिगम्बर मुनि के स्थायी आवास हेतु कोई मठ-मन्दिर या आश्रम आदि नहीं होते। वे चतुर्मास के सिवाय एक स्थान पर अधिक नहीं

रुकते। मुनिराज के लिए यह कोई ऊपर से लादा गया प्रतिबंध नहीं है; बल्कि वे वैराग्यरस से ऐसे प्लावित होते हैं कि श्रावकों से उन्हें ऐसा अनुराग ही नहीं होता कि वे एक जगह अधिक रुकें। वे एकान्तप्रिय ही होते हैं, वर्षा ऋतु में जीव राशि की प्रचुर उत्पत्ति होने के कारण करुणा सागर मुनिराजों को सहज ही विहार करने का भी भाव नहीं आता और निर्मोही होने से बिना कारण एक स्थान पर रुकने का भी भाव नहीं आता। उनके सभी कार्यक्रम सहज होते हैं। यही कारण है कि वे कभी किसी का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। उन्हें किसी तिथि विशेष पर कहीं किसी कार्यक्रम विशेष में पहुँचने का विकल्प भी नहीं होता।

निर्मोही दिगम्बर मुनिराज की वृत्ति अनन्तानुबंधी आदि तीन चौकड़ी के अभाव के कारण जगत से अत्यन्त निरपेक्ष हो जाती है, इसकारण वे जगत के लौकिक तो क्या, धार्मिक आयोजनों में सम्मिलित होने के लिए भी पहले से अपना कार्यक्रम नहीं बनाते। समस्त शुभाशुभ कार्यों के व्यापार से विमुक्त रहते हैं तथा चार आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं।

‘दिगम्बर मुनिराज का किसी के प्रति शत्रुता व मित्रता का भाव नहीं होता, उन्हें सांसारिक सुख-दुःख में साम्यभाव रहता है। निन्दा-प्रशंसा में विषाद व हर्ष नहीं होता। कंचन-कांच - दोनों को पुद्गलपिण्ड के रूप में ही देखते हैं। जीवित रहने और मरण के प्रसंग में हर्ष-विषाद नहीं करते।’<sup>३</sup>

दिगम्बर मुनिराज मुख्यतया रत्नत्रय की भावना से निजात्मा को ही साधते हैं।<sup>४</sup>

दिगम्बर मुनि आत्मसिद्धि के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-पूर्वक सम्यक्-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का साधन करते हैं, लौकिक विषय में किसी से कुछ नहीं कहते, हाथ-पांव आदि के इशारे से भी कुछ नहीं दर्शाते। मन से भी कुछ चिन्तवन नहीं करते हैं। केवल शुद्धात्मा में लीन होकर अंतरंग व बाह्य वाग्व्यापार से रहित निस्तरंग समुद्र की तरह शान्त रहते हैं। जब वे स्वर्ग-मोक्ष के मार्ग के विषय में ही किंचित् भी उपदेश या आदेश नहीं

करना चाहते, तो लौकिक उपदेशादि का तो प्रश्न ही नहीं उठता।<sup>५</sup>

जो वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं, वे अंतरंग-बहिरंग मोह की ग्रन्थि को खोलनेवाले हो जाते हैं। परीषहों व उपसर्गों के द्वारा वे पराजित नहीं होते और कामरूपी शत्रु को जीतनेवाले होते हैं। इत्यादि अनेकप्रकार के गुणों से युक्त साधुओं को किसी से नमस्कार कराने की अपेक्षा नहीं होती, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुमुक्षुओं द्वारा वे स्वतः ही नमस्कार करने योग्य होते हैं, मोक्षार्थी उन्हें स्वयं ही वंदन करते हैं; किन्तु इन गुणों से रहित विद्वान साधु भी नमस्कार करनेयोग्य नहीं हैं।<sup>६</sup>

मुनिराज मोह-क्षोभ रहित साम्यभाव के धारक होते हैं। उक्तं च -  
चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो सम्मोत्तिणिदिट्ठो।

मोह-खोह विहीणो परिणामो हि समोत्ति णिदिट्ठो।।<sup>७</sup>

नियमसार में भी श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिनके ऐसा साम्य भाव नहीं है, उनका वनवास, कायक्लेशरूप अनेक प्रकार के उपवास, अध्ययन, ध्यान आदि सबसे कुछ लाभ नहीं। सभी प्रकार के उक्त साधनों का प्रयोजन एकमात्र समताभाव का धारण करना है।

मुनिपद की महिमा का उल्लेख करते हुए पंचाध्यायीकार ने आचार्य, उपाध्याय पद से भी साधु पद को श्रेष्ठ लिखा है। वे लिखते हैं कि - 'साधु हुए बिना किसी को केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।'

परमागम में यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि वास्तव में साधु पद को ग्रहण किये बिना किसी को भी केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। 'श्रेणी पर अधिरूढ आचार्य आदि को भी अपना पद छोड़कर साधु की भूमिका प्राप्त करनी होती है; क्योंकि आचार्य और उपाध्याय भी श्रेणी चढ़ने के काल में सम्पूर्ण चिन्ताओं के निरोधरूप ध्यान को भी धारण करते हैं जो आचार्य व उपाध्याय पद के उत्तरदायित्व के साथ संभव नहीं है।

यहाँ सामाजिक विचारधारावाले कार्यकर्ता व्यक्ति यह कह सकते हैं

कि "महाराज ! इस काल में एवं इस क्षेत्र में न केवलज्ञान होता है और न मुक्ति ही होती है। ऐसी स्थिति में यदि कोई साधु-संत लौकिक कार्यों में रुचि लेते हैं तो हर्ज ही क्या है ? और सामाजिक सुधार हो एवं राजनीति में अपना प्रभाव रहे, जैनेतरों में जिनधर्म की प्रभावना हो, इसके लिए यदि साधु संतों का सहयोग मिल जाता है तो हमारी सफलता में चार चांद लग जाते हैं। आज तीर्थ सुरक्षित नहीं हैं, प्राचीन मन्दिर जीर्ण-शीर्ण हो रहे हैं, समाज संगठित नहीं है, समाज में कुप्रथाओं का बोलबाला है, घर-घर में कलह है, अर्थ प्रधान युग है।

इन समस्याओं के समाधान के लिए यदि संतों के आशीर्वचन एवं थोड़े से सहयोग से काम बनता है तो हमारे ख्याल से तो कुछ हानि नहीं है।"

आचार्यश्री ने समाधान किया कि - "भाई ! तुम्हारे ख्यालों से मुनिमार्ग नहीं चलता। देखना यह कि इस विषय में जिनागम में क्या आज्ञा है ?

जिनागम के अनुसार - 'पहली बात तो यह है कि - यद्यपि इस क्षेत्र व इस पंचम काल में केवलज्ञान एवं मुक्ति तो नहीं होती, किन्तु आगम के अनुसार मुक्तिरूपी कल्पवृक्ष के अतीन्द्रिय आनन्दरूप मधुर फल प्राप्त करने हेतु सम्यक्त्वरूप बीज बोने का मंगल अवसर तो यही है, अभी ही है। यदि यह अवसर चूक गये तो पुनः यह अवसर सागरों पर्यंत नहीं मिलेगा। अतः यह मुनिव्रत लेकर अन्यत्र कहीं भी उलझना श्रेयस्कर नहीं है।

दूसरी बात यह है कि - जिन्होंने मुनिव्रत की ऊँची प्रतिज्ञा लेकर तथा जिन शुभाशुभ आस्रव भावों को हेय जानकर छोड़ने का संकल्प किया है तथा संवर, निर्जरा एवं मुक्ति के लिए रत्नत्रय की आराधना/साधना कर मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होने की प्रतिज्ञा की है, उस प्रतिज्ञा को भंग करने से बड़ा भारी अक्षम्य अपराध बनता है; क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि "प्रतिज्ञा न लेने का अल्प दोष है और प्रतिज्ञा लेकर उसे भंग करने का तथा उसमें अतिचार लगाने पर बड़ा अपराध है, जिसका फल दीर्घ संसार है।"

तीसरी बात यह है कि - “सच्चे मुनियों को तो अतीन्द्रिय आनन्द सागर में डूबे रहने, उसी में बारम्बार डुबकी लगाने से ही फुरसत नहीं है। वे अपने स्वाभाविक सुख के वातानुकूलित वातावरण में मग्न रहते हैं। वे राग-द्वेष की कषायाग्नि की ज्वाला में झुलसने को स्वरूप के सुख सागर से बाहर आते ही नहीं हैं, उनसे सामाजिक संगठन और राजनीति में प्रभाव बढ़ाने की बात भी नहीं की जा सकती। यदि उन्हें यही सब करना होता तो गृहस्थी क्या बुरी थी ?

साधु के स्वरूप का चित्रण करते हुए कहा गया है कि -

दिन रात आत्मा का चिंतन, मृदु संभाषण में वही कथन ।  
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन ॥  
निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वात्म में सदा विचरते जो ।  
ज्ञानी ध्यानी समरससानी, द्वादश विध तप नित करते जो ॥  
चलते फिरते सिद्धों से गुरु, चरणों में शीश झुकाते हैं ।  
हम चलें आपके कदमों पर नित यही भावना भाते हैं ॥<sup>६</sup>

अतः उनसे लौकिक कार्यों में उलझने की अपेक्षा रखना बिल्कुल भी उचित नहीं है; क्योंकि मुक्ति पाने के उग्र पुरुषार्थी अल्प काल में वहाँ पहुँच जाते हैं, जहाँ से इस काल में मुक्ति होती है। इसकारण तत्त्वज्ञानी मुनिराज अपने अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से हटते नहीं हैं, सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में अटकते नहीं हैं, अपने मोक्षमार्ग से भटकते नहीं हैं। ऐसे मुनिराजों से लौकिक कार्य सिद्ध करने/कराने की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए। उन्हें संसार मार्ग में अटकाना किसी के भी हित में नहीं है।

पुनश्च, जो काम गृहस्थों का है, उसमें साधु-संतों को क्यों उलझाना? क्या यह काम साग-भाजी के लिए हीरे का हार गिरवी रखने जैसा नहीं है?

आचार्यश्री ने प्रवचन के बीच में इसे अनुशासन भंग मान कर अनुशासन की सीख देते हुए कहा - “किसी के ऐसे विचार भी हो सकते हैं कि - ये ऊँची-ऊँची बातें तो चौथे काल के मुनियों की बातें हैं। यह तो

पंचमकाल है, कलयुग का जमाना है, लोगों में संहनन भी वैसे नहीं हैं। अतः जमाने के साथ कुछ समझौता तो करना ही चाहिए न ?”

उन महानुभावों की एक बात तो यह विचारणीय है कि - “शास्त्रों में जो कुछ भी साधुचर्या का उल्लेख है, वह पंचमकाल के आचार्यों ने पंचमकाल के मुनियों के लिए ही लिखा है, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, मूलाचार, भगवती आराधना आदि शास्त्रों की रचना अपने संघ के साधुओं की प्रमुखता से ही की गई है। उक्त आचार संहिता इस काल के मुनिराजों को ही बनाई है और उन्होंने अपने संघ के मुनिराजों से इसका पालन भी कठोर अनुशासन के साथ कराया था।

इस आचार संहिता का पालन नहीं करनेवाले को अष्टपाहुड में निगोद का पात्र तो कहा ही है, उन्हें तिर्यक कहकर डांटा/फटकारा भी है।”

दूसरी बात यह है कि सत्य से समझौता नहीं होता। सत्य के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसे स्वीकार करना ही मुनिधर्म है। जो मुनिधर्म का निर्दोष रूप से पालन नहीं कर सकते, उनके लिए कहा है -

कीजे शक्ति प्रमान शक्ति बिन श्रद्धा धरो ।

द्यानत श्रद्धावान अजर-अमर पद भोगवे ॥

अध्यात्मरसिक ब्र. रायमलजी ने अपने ज्ञानानन्द श्रावकाचार में मुनिराज के स्वरूपगुण रहने का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि - “जैसे कोई प्यास से पीड़ित पुरुष, ग्रीष्म-ऋतु में मिश्री की डली से घुला-मिला शीतल जल अत्यन्त रुचि से गटक-गटक कर पीता है और तृप्त होता है; वैसे ही शुद्धोपयोगी महामुनि स्वरूपाचरण में अत्यन्त तृप्त हैं, बार-बार उसी रस को चाहते हैं। किसी समय उसको छोड़कर पूर्व की वासना से शुभोपयोग में लगते हैं, तब यह जानते हैं कि यह मेरे ऊपर आफत आयी है। यह हलाहल विष के समान आकुलता मुझसे कैसे भोगी जाए? इस समय मेरा आनन्दरस निकल गया है। पुनः मुझे आनन्दरस की प्राप्ति कब होगी। मेरा स्वभाव तो अतीन्द्रिय आनन्दरूप अनुपम स्वरस पीने का है; अतः मुझे तो वही प्राप्त हो।

जैसे समुद्र में मग्न हुआ मच्छ बाहर निकलना नहीं चाहता, वैसे ही मैं ज्ञानसमुद्र में डूबकर फिर नहीं निकलना चाहता। एक ज्ञानरस को ही पिया करूँ, आत्मिक रस बिना और किसी में रस है ही नहीं। सारे जग की सामग्री चेतनारस के बिना जड़स्वभाव धारण करनेवाली उसी भांति फीकी है, जैसे लवण बिना अलोनी रोटी फीकी होती है।”

वे महामुनि आत्मा का ध्यान ही धारण करते हैं, उनका ध्यान देखकर ऐसा लगता है, मानो वे केवली भगवान की प्रतिमा की होड़ कर रहे हैं। वे भगवान की परमशांत मुद्रा के दर्शन कर यह विचारते हैं कि -

“हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैंने भी निज स्वरूप को पाया है, अतः इस समय मैंने अन्तर्मुख होकर निज स्वरूप का ही ध्यान किया है; आपका नहीं। आपके ध्यान के अवलम्बन से मुझे निजस्वरूप का ही ध्यान करते हुए आनन्द विशेष होता है। मुझे अनुभवपूर्वक भी ऐसी ही प्रतीति है और दिव्यध्वनि द्वारा आपने भी ऐसा ही उपदेश दिया है।”

ब्र. रायमल्लजी ने अपने ज्ञानानन्द श्रावकाचार में आगे कहा है कि “अध्यात्म में निमग्न मुनिराज जब आहार-विहार के समय शुभभाव भूमि में होते हैं, तब उनकी व्यवहारचर्या कैसी होती है ? यह बात भी जानने योग्य है।”

इस बात का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है कि - “मुनिराज जब नगर से नगरान्तर, प्रदेश से प्रदेशान्तर विहार करते हैं। भोजन के अर्थ नगरादि में जाते हैं, तब वहाँ वे पड़गाहे जाने पर नवधाभक्ति सहित छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर खड़े-खड़े एक बार करपात्र में आहार लेते हैं। इत्यादि शुभ कार्यों में प्रवर्तन करते हैं।

मुनि उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर परिणामों की निर्मलता के अर्थ अपवाद मार्ग को भी अपनाते हैं और कदाचित् अपवाद मार्ग छोड़कर उत्सर्ग मार्ग को अपनाते हैं। यद्यपि उत्सर्ग मार्ग कठिन है और अपवाद मार्ग सुगम है। छठवें गुणस्थान में आने पर मुनि के ऐसा हठ नहीं है कि ‘मुझे कठिन ही आचरण आचरणा है या सुगम ही आचरण करना है।’

कहने का आशय यह है कि मुनि के तो परिणामों की परख है, बाह्य क्रिया का प्रयोजन नहीं है। जिस प्रवृत्ति से परिणामों की विशुद्धता की वृद्धि हो और वीतरागता बढ़े, वही आचरण आचरते हैं। ज्ञान-वैराग्य आत्मा का जो निज लक्षण है, उसे ही चाहते हैं।

मुनिराज छठवें गुणस्थान में आने पर शुभभाव में आते तो हैं; परन्तु शुभभावों में अधिक काल रहना नहीं चाहते। अतः हर अन्तर्मुहूर्त में सप्तम गुणस्थान में जाकर शुद्धोपयोग की भावभूमि में अतीन्द्रिय आनन्द सागर में डुबकी लगाने लगते हैं; समता रस का पान करने लगते हैं। इसी बात को पण्डित दौलतरामजी ने निम्नांकित शब्दों में इसप्रकार लिखा है-

“यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।

चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग निजपद बेइये॥”

इसप्रकार पण्डित दौलतराम ने भी निजपद में, स्वरूप में मग्न होने की प्रेरणा देते हुए विषय-कषाय और विषयों को प्राप्त करानेवाले पुण्यभावों को त्यागने की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है तथा परपद में न लगे रहकर स्वपद में आने की पावन प्रेरणा दी है। इतना ही नहीं यह अमूल्य अवसर न चूकने की बात भी कही है।

पण्डित दौलतराम एवं अन्य सभी विचारकों ने यह कहा है कि-

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।

तो रिककल जग दंद-फंद निज आतम ध्याओ ॥

कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवाणी उचरौ है।

दौल ध्याय अपने आतम को, मुक्तिरमा तोहि वेग वरै है॥”

इसप्रकार हम देखते हैं कि निज स्वरूप में लीनता द्वारा ही आत्मकल्याण संभव है। इस बात के लिए ही सम्पूर्ण जिनागम समर्पित है। यत्र-तत्र-सर्वत्र इसी बात को प्रमुखता दी गई है।

मुनिराज भावों की अपेक्षा छठवें-सातवें गुणस्थानों में झूले की तरह झूलते रहते हैं। करणानुयोग के अनुसार छठवाँ गुणस्थान शुभभावों का है, जिसमें आहार, विहार एवं उपदेश देने आदि के भाव होते हैं और

सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग में मग्न होकर स्वरूपगुप्त हो जाते हैं।

यद्यपि चरणानुयोग की अपेक्षा शुभभावों को शुद्धोपयोग की संज्ञा भी दी है, क्योंकि ये शुभ क्रियायें शुद्धोपयोग के लिए ही की जाती हैं।<sup>१०</sup>

यहाँ ज्ञातव्य है कि प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के अन्दर उन्हें सातवें से छठवाँ एवं छठवें से सातवाँ गुणस्थान होता ही रहता है, इसकारण वे आहार-विहार करते, उपदेश करते एवं शास्त्र लिखने के बीच-बीच में भी उन्हें शुभोपयोग से शुद्धोपयोग होता है। अशुभभावों का तो मुनि भूमिका में अस्तित्व ही नहीं होता। उनका आहार भी तप बढ़ाने का हेतु होने से शुभभाव ही है, जबकि गृहस्थ का आहार-विहार अशुभभाव है; क्योंकि गृहस्थ का आहार-विहार शरीरपोषण, भोगों और आरंभपरिग्रह संग्रह के लिए होता है। छहढाला में भी कहा है -

**इक बार दिन में ले अहार खड़े अल्प निज पान में।**

तथा - लें तप बढ़ावन हेत नहिं, तन पोषते तज रसन को ॥

मुनिराज दिन में एक बार ही आहार लेते हैं, वह भी भरपेट नहीं अल्पाहार ही लेते हैं और वह भी खड़े-खड़े अपने हाथ में ही लेते तथा तप की वृद्धि हेतु लेते हैं, तन पोषण के लिए नहीं।<sup>११</sup>

ध्यान व अध्ययन के लिए मुनिराज एकान्त में रहना चाहते हैं, एतदर्थ वन में वसतिकार्यें बनाई जाती हैं, नगर से दूर नसिया बनाई जाती है, जिससे कमजोर संहनन वाले साधु वन्य-जंतुओं से सुरक्षित रहकर निर्बाध आत्मसाधना, ध्यान-अध्ययन और मनन-चिन्तन कर सकें। ज्ञातव्य है कि उनकी वसतिकाओं में किवाड़-सांकल-कुन्दे नहीं होते हैं, क्योंकि उन पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। अन्यथा वह परिग्रह की श्रेणी में आ जाता है।

मुनिराज नगरवासी गृहस्थों की संगति से जितने अधिक बचे रहेंगे, उतनी ही अधिक आत्मसाधना कर सकेंगे; क्योंकि गृहस्थ व्यर्थ की राग-

द्वेष वर्द्धक बातें करके साधुओं का उपयोग खराब करते हैं।

जिस राग-द्वेष से बचने के लिए वे साधु हुए हैं, उन्हें येन-केन-प्रकारेण उन्हीं राग-द्वेषों के सामाजिक कार्यों में उलझा देना ठीक नहीं है।

इन गृहस्थों की लौकिक वार्ता से बचने के लिए ही वे एकान्तवासी होते हैं; पर आहार एक ऐसी आवश्यकता है कि जिसके कारण उन्हें इन गृहस्थों के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। अतः सावधानी के लिए ये नियम रखे गये हैं कि जब मुनि आहार के विकल्प से नगर में आते हैं तो मौन लेकर ही आते हैं। दूसरे, वे खड़े-खड़े ही आहार करते हैं। तीसरे, वे करपात्री ही होते हैं।

क्योंकि भोजन की जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह थाली में खाने में नहीं रहती। अतः वे करपात्री ही होते हैं।

मुनि को तो शुद्ध सात्त्विक आहार से अपने पेट का खड्डा भरना है, वह भी आधा-अधूरा। शान्ति से बैठकर धीरे-धीरे स्वाद ले-ले कर भरपेट खाना उन्हें अभीष्ट नहीं है; क्योंकि भरपेट खाने के बाद आलस का आना स्वाभाविक ही है। अतः जिन मुनिराजों को आहार से लौटने पर छह घड़ी तक सामायिक करनी है, वे प्रमाद बढ़ानेवाला भरपेट भोजन कैसे कर सकते हैं? इसकारण मुनिराजों का अल्पाहार ही होता है। वे मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्त्विक अल्प आहार लेते हैं। वे पानी भी भोजन के समय ही लेते हैं, बाद में पानी भी नहीं लेते।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज जब आहार लेकर वापिस लौटते हैं तो उन्हें आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर आहारचर्या के काल में मन-वचन-काय की क्रिया में यदि कोई दोष लग गया हो तो वह सब भी बताकर प्रायश्चित्त लेना होता है; क्योंकि आहार के काल में गृहस्थों के समागम की अनिवार्यता है और उनके समागम में दोष होने की संभावना भी अधिक रहती है। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों का समागम साधुओं के लिए कितना हानिप्रद है।

इसी की विशुद्धि के लिए यह नियम रखा गया है कि आहारचर्या के बाद साधु आचार्यश्री के पास जाकर सब-कुछ निवेदन करें और उनके आदेशानुसार प्रायश्चित्त करें।'

इस बात को ध्यान में रखकर वीतरागी साधुओं को गृहस्थों के समागम से बचने का पूरा-पूरा प्रयत्न करना होता है। यदि गृहस्थों को मुनियों का सत्समागम मिल जाता है तो वे उनसे वीतराग चर्चा ही करें, तत्त्वज्ञान समझने का ही प्रयास करें। मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का मार्गदर्शन प्राप्त करें।

मुनिराज उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। उनकी वृत्ति को मधुकरी वृत्ति कहा गया है। जिसप्रकार भौरा या मधुमक्खी जिन फूलों से मधु ग्रहण करती है, रस ग्रहण करती है; उसे रंचमात्र भी क्षति नहीं पहुँचाती। उसीप्रकार मुनिराज भी, जिसके यहाँ आहार लेते हैं, उसे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं पहुँचने देते, उसे दुःखी होने में निमित्त नहीं बनते। इसीकारण वे किसी का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते और किसी को आहार बनाने का आदेश-उपदेश भी नहीं देते। गृहस्थ स्वतः अपनी भक्ति व शक्ति के अनुसार जैसा भी भोजन बना कर नवधा भक्ति से पड़गाहन कर आहार कराता है, उसे ४६ दोष टालकर ग्रहण करते हैं। यही मुनिराज का यथार्थ उद्दिष्ट आहार का त्याग है।

कुछ लोग उद्दिष्ट त्याग भोजन के अर्थ करने में अति करते हैं। वे उद्दिष्ट त्याग को दातार से जोड़ते हैं, जबकि उद्दिष्ट आहार के त्यागी मुनिराज हैं।

मुनिराज किसी से यह नहीं कहते कि वे कैसा आहार लेंगे, कहाँ से लेंगे, कब लेंगे? ऐसा कोई संकेत भी नहीं करते, बल्कि वृत्तिपरिसंख्यान व्रत के अनुसार ऐसी अटपटी प्रतिज्ञायें लेते हैं, जिसका कोई अनुमान भी मुश्किल से लगा पाता; फिर भी आहार दाता गृहस्थ नानाप्रकार से अनुमान लगा कर पड़गाहन की विधियाँ बदल-बदल कर मुनि को पड़गाहन करने का प्रयत्न करता है और आहार की विधि मिलने पर अपनी भक्ति व शक्ति के अनुसार साधु के स्वास्थ्य और रुचि के अनुकूल आहार कराकर अपने को धन्य मानता है। इससे वह विशेष पुण्यार्जन करता है।

एक श्रोता ने आशंका प्रगट की - हमने तो ऐसा सुना है कि गृहस्थ

अपने लिए बने भोजन को ही मुनि के आहार में देता है, क्योंकि मुनि को आहार देने के लिए बनाया भोजन उद्दिष्ट होता है; पर मेरी समझ में यह नहीं आता; क्योंकि यह संभव ही नहीं है। यदि कोई भी व्यक्ति एक भी ऐसा उदाहरण बता सके तो अवश्य बताये। भले वह उदाहरण पुराण का हो या आज के संदर्भ में हो।

यदि किसी आचार्य का ऐसा स्पष्ट युक्ति संगत आदेश आगम में बता सके तो सबसे अधिक खुशी मुझे होगी। मुझे तो अब तक बहुत खोजने पर भी ऐसा उदाहरण देखने में नहीं आया।

अब तक के प्राप्त आधार और युक्तियों से तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि - 'गृहस्थ यदि किसी एक व्यक्ति विशेष मुनि को आहार बनाता है और अन्य द्वार पर आये मुनियों की उपेक्षा कर उन्हीं की प्रतीक्षा व पड़गाहन करता है तो वह आहार उद्दिष्ट है। सामूहिक रूप से किसी भी मुनि के लिए आहार बनाना उद्दिष्ट नहीं है।

यदि ऐसा हो तो अकम्पाचार्य आदि मुनि संघ को धुँआ से गला रूंध जाने के कारण सेवयियों का ही आहार क्यों/कैसे दिया गया? मुनि आदिनाथ को इच्छुरस का ही आहार क्यों दिया गया? क्या वह सब आहार गृहस्थ ने अपने लिए ही बनाया था।

बीमार मुनिराजों के आहार में औषधि देने का विधान आगम में है तो क्या वही बीमारी दातार को होना जरूरी है, जो मुनिराज को है? और प्रत्येक घर में सभी शुद्ध, सात्त्विक, मर्यादित औषधियों का भंडार होना संभव है? दवायें पात्र की बीमारी के अनुकूल उन्हीं के लिए बनाई जायेंगी तो आपकी व्याख्या के अनुसार तो दवायें भी उद्दिष्ट आहार की श्रेणी में ही मानी जायेंगी। फिर उस शास्त्र की आज्ञा का क्या होगा?

हाँ, मुनिराज कहेंगे नहीं कि अमुक दवा बना कर दो। पर दातार तो पात्र की बीमारी के हिसाब से ही बनायेगा न! उद्दिष्ट त्याग मूलगुण आहारदान दाता गृहस्थ का एक गुण नहीं, मुनि का है। अतः जब मुनि यह ज्ञात हो जायेगा कि यह आहार स्पेशल मेरे लिए ही बनाया है तो वह मुनि उस आहार को नहीं लेगा।''

किसी को जिज्ञासा हो सकती है कि मुनिराज किस उद्देश्य से आहार

ग्रहण करते हैं ?

समाधान यह है कि आत्मकल्याण के पावन उद्देश्य से घर-परिवार, सांसारिक सुख-सुविधाओं, वैभव एवं भोगोपभोग के साधनों का परित्याग करके मुनिधर्म अंगीकार किया जाता है। वस्तुतः आत्म-संयमरूप वीतराग परिणति की अभिवृद्धि करना ही मुनिराज का उद्देश्य होता है। इसीलिए आत्मकल्याण के अभिलाषी, संयमी मुनिराजों का आहार-ग्रहण भी संयम की साधना के लिए ही होता है। देह-पोषण का रंचमात्र भी उद्देश्य उसमें निहित नहीं होता। संयम एवं शुद्धोपयोग की साधना में शरीर बाह्य निमित्त होता है और शरीर की स्थिति में आहार निमित्त होता है। यही कारण है कि मुनिराज शरीर की स्थिति एवं संयम की साधना हेतु ही आहार लेते हैं।

मुनिराज, बल, आयु, स्वाद, शरीर की पुष्टि के लिए आहार नहीं लेते; अपितु ज्ञान, ध्यान और संयम के लिए आहार ग्रहण करते हैं।

कोई कुछ भी कहे इसके पूर्व ही आचार्यश्री ने चर्चा को विराम देते हुए कहा - शेष चर्चा-समाधान अगले उपदेश के कार्यक्रम में करेंगे।

१. विषयाशावशातीतोः निरारंभो परीग्रहः।  
ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ - रत्नकरण्डश्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र
२. ये व्याख्यायान्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादे कंचशिष्याणां।  
कर्मोन्यूनशक्ता, ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः ॥ - क्रियाकलाप ३/१/५१४३
३. सम सत्तु बंध वगो, सम सुह दुःख पसंस निन्दसमो।  
सम लोह कंचणो पुण जीवित मरणे समो समणो ॥ - प्रवचनसार गाथा ४१ : आ.कुन्दकुन्द
४. रत्नत्रयभावना स्वात्मानं साधयतीति साधुः। - तात्पर्यवृत्ति टीका, प्रवचनसार
५. पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, श्लोक ६६७ से ६७४ तक, ४. नियमसार गाथा २४
६. प्रवचनसार गाथा ७
७. पंचाध्यायी, गाथा ७१९, ७२०, ७२१, ७२२
८. मोक्षमार्गप्रकाशक, कुछ अध्याय पृष्ठ २९९। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल
९. देव-शास्त्र-गुरु पूजन, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
१०. प्रवचनसार गाथा १ की तात्पर्यवृत्ति टीका



श्रोता परस्पर में कल के मुनिधर्म की महिमा पर हुए उपदेश की चर्चा कर ही रहे थे कि आचार्यश्री पधार गये और उपदेश प्रारंभ हुआ।

आचार्यश्री ने कुन्दकुन्द को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए कहा - “देखो, आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ‘यदि चतुर्गति के दुःखों से मुक्त होने की इच्छा है तो श्रामण्य को अंगीकार करो, क्योंकि मुनि हुए बिना संसार के दुःखों से मुक्ति संभव ही नहीं है’, परन्तु मैं कहता हूँ कि - ‘मुनि बनने के पहले मुनीम बनना जरूरी है। जिसतरह मुनीम को यह भेदज्ञान बराबर होता है कि सारी संपत्ति सेठ की है, मैं तो केवल वेतन का मालिक हूँ। भले ही वह व्यवहार में व्यापार के नफा-नुकसान को अपना कहता है, पर मानता यही है कि इससे मुझे क्या ? दूसरे, वह सही खतौनी करना जानता है। जिसका पैसा आता-जाता है, उसी के खाते में जमा-खर्च करता है। कभी गलत जमा-खर्च नहीं करता। ठीक इसीप्रकार जो स्वाध्यायी श्रावक पर पदार्थों का स्वामी नहीं बनता, पर से भेदज्ञान कर पर को पर एवं निज को निज जानता है तथा सात तत्त्वों को यथार्थ स्वरूप पहचान कर एक तत्त्व को दूसरे में नहीं मिलाता। आस्रव को आस्रव ही जानता है। आस्रव को संवर नहीं मानता। जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न जानता है। बंध व मोक्ष के कारणों में भूल नहीं करता। सही भेदज्ञान के बाद ही सही मुनिपना होता है। पहले जब सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान हो जाता है, तब कहीं संसार, शरीर और भोगों से उदासीनता होती है, परिषहादि पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रगट होती है, तभी व्यक्ति स्वयं मुनि होना चाहता है।”

आचार्य कुन्दकुन्द और पद्मप्रभमलधारिदेव भी इसी बात को पुष्ट



करते हुए कहते हैं कि - “साधु समस्त आरंभादि बाह्य व्यापार से मुक्त तथा चतुर्विध आराधना में सदा तत्पर एवं अनुरक्त रहते हैं। मुनिराजों की कुछ विशेषताएँ इसप्रकार हैं - १. मुनिराज सकल संयमी होने से तथा परम पारिणामिकभाव की भावना से परिणत होने से समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त होते हैं। २. वे बाह्य-आभ्यन्तर-समस्त परिग्रह से रहित होने से ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। ३. निज कारण परमात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान और सम्यक् आचरण के प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन-ज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने से निर्मोही होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द पुनः कहते हैं कि - “मुनिराज का बहिर्लिंग जन्मजात बालकवत् निर्विकार, सिर, दाढ़ी-मूँछ के बालों का लोंच किया हुआ अकिंचन हिंसादि से रहित और शारीरिक शृंगार से रहित होता है।”

श्रामण्य का अंतरंग लिंग मूर्छा (ममत्व) और आरंभ से रहित, एवं उपयोग और योग की शुद्धि से सहित तथा पर की अपेक्षा से रहित होता है।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में साधु का सामान्य स्वरूप इस प्रकार लिखा है - “मुनिराज की अंतरंग परिणति में अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान संबंधी तीन कषाय चौकड़ी के अभाव के कारण शुद्धपरिणति विशेष होती है। वे अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित होकर शुद्धोपयोगी होते हैं। अंतरंग में शुद्धोपयोग से अपने को आपरूप अनुभव करते हैं। वे परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, आत्मस्वरूप को साधते हैं। परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना मानकर राग-द्वेष नहीं करते, निरन्तर भेदज्ञान में रत रहते हैं।”

पण्डित दौलतरामजी ने अनेक शास्त्रों के साररूप छहढाला की छठवीं ढाल में मुनिराज की शुद्धोपयोग दशा को इसप्रकार व्यक्त किया है -

“जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।  
वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया ॥  
निज माँहि निज के हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो।  
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥८ ॥

तथा -

जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प, वचभेद न जहाँ।  
चिद्धाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ ॥  
तीनों अभिन्न अखिन्न, शुध-उपयोग की निश्चल दशा।  
प्रगटी जहाँ दृग ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एकै लसा ॥९ ॥

अर्थात् जिन्होंने सुबुद्धिरूपी पैनी छैनी से वर्ण आदि और रागादि से अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को भिन्न जान लिया है, दोनों से अपने आत्मा का भेदज्ञान कर लिया है एवं आत्मा में आत्मा के ही द्वारा अपने आत्मा में ही अपनापन ग्रहण कर लिया है तथा स्वयं ध्यान रूप होकर अभेद, अखंड और निर्विकल्प अनुभव कर लिया है। चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा स्वयं ही कर्ता, स्वयं ही कर्म और स्वयं ही क्रियारूप से परिणत होकर तीनों को अभिन्न, अक्षीण और शुद्धोपयोगरूप होकर निश्चलता प्राप्त कर ली है, वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी अभेद एक रूप सुशोभित होने लगते हैं।

मुनिराज नग्न तो होते ही हैं, उनमें और भी बाह्य अनेक विशेषताएँ होती हैं, जो इसप्रकार हैं -

“मुनिधर्म की प्रारंभिक भूमिका में छठवें गुणस्थान के समय उन्हें अट्ठाईस मूलगुण पालन करने के जो शुभभाव होते हैं, उन्हें वे रागरूप होने से धर्म नहीं मानते तथा उन्हें उस काल में भी तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने से जितने अंश में वीतराग रूप शुद्ध परिणति वर्तती है, उतने अंश में ही वीतराग भावरूप धर्म होता है।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार आहार - वास्तव में ये श्रमणों के मूलगुण हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थान होता है।

**पाँच महाव्रतों का स्वरूप –**

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंच महाव्रतों का स्वरूप इसप्रकार कहा है? –

१. जीवों के कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि जानकर, उनके आरम्भ में निवृत्तिरूप परिणाम करना **अहिंसा महाव्रत** है।

२. राग, द्वेष अथवा मोह से होनेवाले असत्य वचन के परिणाम को छोड़ना **सत्य महाव्रत** है।

३. ग्राम, नगर या वन में परायी वस्तु को देखकर, उसे ग्रहण करने का भाव छोड़ना **अचौर्य महाव्रत** है।

४. स्त्रियों का रूप देखकर, उनके प्रति वांछाभाव की निवृत्ति करना अथवा मैथुन संज्ञारहित परिणाम होना – **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

५. निरपेक्ष भावनापूर्वक एक मिथ्यात्व, चार कषायें, नोकषायैरूप इस तरह चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह एवं दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों के त्यागरूप चारित्र को धारण करना **अपरिग्रह महाव्रत** है।”

**पाँच समितियों का स्वरूप**

पाँच समिति का स्वरूप बताते हुए कहा है कि – “सम्यक् अयन अर्थात् सम्यक्प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। गमन आदि क्रियाओं में सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है। ये भी ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति के भेद से पाँच होती हैं।”

पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है कि – “यदि जीव निश्चय समिति को उत्पन्न करे तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है, समिति के अभाव में वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु संसाररूपी महासागर में ही भटकता है।”

पण्डित टोडरमलजी ने कहा है कि “मुनियों के किंचित् राग होने पर आहार, विहार और निहार के निमित्त गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्तता के अभाव में प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती

तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना प्रयोजन नहीं साधते। इसलिए स्वयमेव ही दया पलती है। इसप्रकार यह सच्ची समिति है।”

यहाँ ज्ञातव्य है कि – “सम्यग्दृष्टि को समिति में जितने अंश में वीतरागभाव है, उतने अंश में संवर है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में शुभ बन्ध है।

मंदकषायी द्रव्यलिंगी पहले गुणस्थानवर्ती मुनि के भी शुभोपयोगरूप समिति होती है, किन्तु वह संवर का कारण नहीं है। जबकि तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में समिति को संवर के कारणों में गिना है, इसका कारण यह है कि जैसे सम्यग्दृष्टि के वीतरागता के अनुसार पाँच समिति संवर का कारण होती हैं; परन्तु उनके भी जितने अंश में राग है, उतने अंश में वे आस्रव का भी कारण होती हैं। अतः संवर अधिकार में संवर की मुख्यता होने से समिति को संवर के कारणरूप से वर्णन किया है और इसी तत्त्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय में आस्रव की मुख्यता है, अतः वहाँ समिति में जो राग अंश है, उसे आस्रव के कारणरूप से वर्णन किया है।

समिति में चारित्र का मिश्ररूप भाव है – ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि के होता है, उसमें आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है। जिस अंश में वीतरागता है, उस अंश के द्वारा तो संवर ही होता है और जिस अंश में सरागता है, उस अंश के द्वारा बंध ही होता है। सम्यग्दृष्टि के ऐसे मिश्ररूप भाव से तो संवर और बन्ध – ये दोनों कार्य होते हैं; किन्तु अकेले राग के द्वारा ये दो कार्य नहीं हो सकते; इसलिए अकेले प्रशस्त राग से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना भ्रम है।

मिश्ररूप भाव में भी यह सरागता है और यह वीतरागता है – ऐसी यथार्थ पहचान सम्यग्दृष्टि के ही होती है। इसीलिए वे अवशिष्ट सरागभाव को हेयरूप से श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टि को सरागभाव और वीतरागभाव

की यथार्थ पहिचान नहीं है, इसलिए वे सरागभाव में संवर का भ्रम करके प्रशस्त रागरूप कार्यों का उपादेयरूप श्रद्धान करते हैं।

नियमसार गाथा ६१ से ६५ में ही आचार्य कुन्दकुन्द ने समितियों का स्वरूप इसप्रकार बताया है -

१. “जो श्रमण प्रासुक मार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण (चार हाथ) आगे देखकर चलते हैं, उन्हें **ईर्या समिति** होती है।

२. जो श्रमण चुगली, हास्य, कर्कशभाषा, परनिन्दा और आत्मप्रशंसारूप वचन का परित्यागी होकर स्व-पर हितरूप वचन बोलते हैं, उन्हें **भाषा समिति** होती है।

३. जो श्रमण पर के द्वारा दिया गया, कृत-कारित-अनुमोदना रहित, प्रासुक और प्रशस्त भोजनरूप सम्यक् आहार को ग्रहण करते हैं, उन्हें **एषणा समिति** होती है।

४. जो श्रमण पुस्तक, कमण्डलु आदि उठाने-रखने आदि संबंधी सत्प्रयत्न परिणाम करते हैं, उन्हें **आदान निक्षेपण समिति** होती है।

५. जो श्रमण पर के विरोधरहित, निर्जन और प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग करते हैं, उन्हें **प्रतिष्ठापन समिति** होती है।”

**पाँच इन्द्रियों का निरोध -**

इन्द्रिय निरोध का स्वरूप बताते हुए छहढालाकार पण्डित दौलतरामजी ने छठवीं ढाल में कहा है -

“रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने।

तिनमें न राग विरोध पञ्चेन्द्रिय-जयन पद पावने॥”

मूलाचार में पाँच इन्द्रिय-निरोध का वर्णन निम्न प्रकार किया है -

१. “जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दुःखरूप स्पर्श में मोह-रागादि नहीं करना, **स्पर्शोन्द्रिय-निरोध** है।

२. खाद्य, स्वाद्य, लेय एवं पेयरूप चारों प्रकार के अशन जो पंच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, रुचिकर अथवा अरुचिकर पर के द्वारा दिया गया हो, उस आहार में लम्पटता नहीं होना **रसनेन्द्रिय निरोध** है।

३. प्राकृतिक तथा पर-निमित्तिक गंध में राग-द्वेष नहीं करना, **घ्राणेन्द्रिय निरोध** है।

४. सचेतन व अचेतन पदार्थों की क्रिया में आकार और वर्ण में प्रिय-अप्रिय लगनेरूप राग-द्वेष का त्याग करना **चक्षुरिन्द्रिय निरोध** है।

५. वीणा आदि यंत्रों से उत्पन्न हुए शब्दों को सुनकर राग-द्वेष नहीं करना **कर्णेन्द्रिय निरोध** है।”

**छह आवश्यक**

छह आवश्यक के विषय में मूलाचार में कहा है - “मुनियों को अवश्य करने योग्य कार्यों को आवश्यक कहते हैं। सर्व कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ ऐसे नियम-विशेष को पालन करने को आवश्यक कहते हैं। जो कषाय, राग-द्वेष आदि के वशीभूत न हो, वह अवश है, उस अवश का जो आचरण है, वह आवश्यक है।”

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है - “जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराती हैं, वे छहों क्रियाएँ आवश्यक हैं।”

आवश्यकों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है -

“समता सम्हारें, श्रुति उचारें, वन्दना जिनदेव को।

नित करैं श्रुतरति, करैं प्रतिक्रम, तजै तन अहमेव को॥

समता धारण करना, जिनेन्द्रदेव की स्तुति करना, वंदना करना, शास्त्र-पठन में रुचि, प्रतिक्रमण करना तथा कायोत्सर्ग करना।<sup>६</sup>”

मूलाचार में मुनियों के षट् आवश्यक का वर्णन करते हुए कहा है-

१. “जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु तथा सुख-दुःख इत्यादि में समभाव होना समता या सामायिक आवश्यक है।

२. ऋषभ आदि तीर्थकरों के नाम का कथन और गुणों का कीर्तन करके तथा उनकी पूजा करके, उनको मन, वचन, कायपूर्वक नमस्कार करना **स्तवन आवश्यक** है।

३. अरहंत, सिद्ध और उनकी प्रतिमा तथा तप, श्रुत या गुणों में बड़े गुरु और स्वगुरु का, कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करना **वन्दना आवश्यक** है।

४. निन्दा और गर्हापूर्वक, मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना, **प्रतिक्रमण** है।

५. भविष्यकाल में आने वाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य कर्म का मन-वचन-काय से वर्जन करना, प्रत्याख्यान आवश्यक है।

६. दैवसिक, रात्रिक और नियमरूप क्रियाओं में, आगम में कथित प्रमाण के द्वारा एवं निर्धारित काल में जिनेन्द्रदेव के गुणों के चिन्तन सहित शरीर से ममत्व का त्याग करना, **कायोत्सर्ग आवश्यक** है।

### शेष सात गुण -

१. **केशलोच** - शेष सात मूलगुणों में केशलोच नामक मूलगुणों के संबंध में मूलाचार में कहा है - “हाथों से मस्तक और दाढ़ी-मूँछ के बालों को उखाड़ना, लोच या केशलोच कहलाता है। यह केशलोच दिन में, प्रतिक्रमण सहित एवं उपवासपूर्वक किया जाता है। इसकी अवधि क्रमशः दो, तीन, चार माह है; जिसे उत्तम, मध्यम और जघन्य कहा जाता है।”

केशलोच करने का प्रयोजन यह है कि सम्मूर्च्छन जूं आदि उत्पन्न न हो जावें तथा शरीर से रागभाव आदि को दूर करने के लिए, अपनी शक्ति को प्रगट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए और निर्ग्रन्थ मुद्रा आदि के गुणों को बतलाने के लिए, हाथ से मस्तक तथा दाढ़ी-मूँछ के केशों को उखाड़ा जाता है।

बालों को हाथों से ही उखाड़ते हैं। उस्तरा-कैंची इत्यादि से नहीं, क्योंकि उस्तरा आदि से केशों को दूर करने में दैन्यवृत्ति होती है, याचना करनी पड़ती है और परिग्रह रखना पड़ता है, किन्तु हाथ से केशों को दूर करने में ये दोष नहीं आते। यही कारण है कि स्वाधीनवृत्ति वाले मुनिराज हाथ से ही केशलोच करते हैं।

२. **अचेलकत्व (अचेलकपना)** - श्रमण अवस्था में सम्पूर्ण परिग्रह को चेल शब्द से कहा गया है। नहीं है चेल जिसके, वे अचेलक हैं, अचेलक का भाव अचेलकत्व है अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र, आभरण इत्यादि का परित्याग करना, अचेलक्य व्रत है। वस्त्र और वल्कलों से शरीर को नहीं ढंकना, भूषण, अलंकार और परिग्रह से रहित होना अचेलकत्व मूल गुण है।

किसी भी प्रकार के वस्त्र से शरीर को ढंकने से उन वस्त्रों के आश्रित हिंसा अनिवार्य है; उनको संभालना, धोना, सुखाना, फट जाने पर दूसरों से माँगना आदि प्रसंग अवश्य आयेंगे। इन कारणों से साधु को ध्यान और अध्ययन में बाधा अवश्य आयेगी; इसलिए नग्नवेश धारण करना, यह आचेलक्य मूलगुण है।

अशरीर सिद्धपद की साधना में तत्पर मुनिराज को शरीर साफ-सुथरा रखने की, उसे वस्त्र से ढांकने इत्यादि की व्यवस्था करने की वृत्ति नहीं होती। यदि शरीर को वस्त्र से ढांकने की वृत्ति उत्पन्न हो जाये तो मुनिपना नहीं रहता।

एक निश्चयाभासी श्रोता बीच में बोला - “अध्यात्मदृष्टि में मुनि को वस्त्र हों या नहीं हों, इससे क्या है? वस्त्र तो परद्रव्य है न?”

इसका समाधान करते हुए आचार्य श्री ने कहा “जिसको अध्यात्म की दृष्टि प्राप्त होती है, उसको उतने प्रमाण में राग भी छूट जाता है और जहाँ जितने अंश में राग कम हो जाता है, वहाँ स्वेच्छापूर्वक उसप्रकार

का बाह्य परिग्रह भी कम हो जाता है।” अध्यात्म का ऐसा सहज सुमेल होता है। क्रोधादि से तीन चौकड़ी के अभाव में मोक्ष के साधक मुनिराज की अंतरंग दशा में अध्यात्म की कोई अद्भुत खुमारी होती है। उस दशा में वस्त्रादि धारण करने का राग स्वतः छूट जाता है। इसकारण वे निर्वस्त्र ही रहते हैं। जिसे अध्यात्म की दृष्टि प्राप्त नहीं है, वही ऐसे कुतर्क करता है।

भगवती आराधना में अचेलकत्व अर्थात् नम्रता मूलगुण के अनेक लाभ बताये गये हैं - १. सर्व परिग्रह का परिहार होने से त्यागधर्म में प्रवृत्ति होती है। २. आर्किचन्य धर्म में प्रवृत्ति होती है। ३. आरम्भ का अभाव होने से असंयम का अभाव होता है। ४. असत्य भाषण का कारण ही नष्ट हो जाता है। ५. लाघवगुण अर्थात् विनम्रता होती है। ६. अचौर्यव्रत की पूर्णता प्राप्त होती है। ७. रागादि का त्याग होने से परिणामों में निर्मलता आती है। ८. ब्रह्मचर्य का निर्दोष रक्षण होता है। ९. उत्तमक्षमागुण प्रगट होता है। १०. उत्तममार्दवगुण प्रगट होता है। ११. आर्जव गुण प्रगट होता है। १२. शौचगुण प्रगट होता है। १३. उपसर्ग और परिषह सहन करने की सामर्थ्य प्रगट होती है। १४. घोर तप का पालन होता है। १५. संयम शुद्धि होती है। १६. इन्द्रिय-विजय गुण प्रगट होता है। १७. लोभादिक कषायों का अभाव होता है। १८. परिग्रह-त्याग गुण प्रगट होता है। १९. आत्मा निर्मल होता है। २०. शरीर के प्रति उपेक्षा प्रगट होती है। २१. स्ववशता गुण प्रगट होता है। २२. मन की विशुद्धि प्रगट होती है। २३. निर्भयता गुण प्रगट होता है। २४. अपना बल वीर्य प्रगट होता है। २५. तीर्थकरों के द्वारा आचरित गुण प्राप्त होता है।

अधिक क्या कहें ? जितने तीर्थकर हो चुके हैं और होनेवाले हैं, वे सब वस्त्र रहित होकर ही तप करते हैं। जिन प्रतिमाएँ और तीर्थकरों के अनुयायी गणधर भी निर्वस्त्र ही होते हैं।

३. भूमिशयन - मूलाचार के अनुसार रात्रि के पिछले प्रहर में अल्पनिद्रा, संस्तर से रहित एकान्त प्रासुक भूमिप्रदेश में दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना भूमिशयन मूलगुण है। छहढाला में कहा है कि -

“भूमांहि पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करन।।”

अनगारधर्मावृत्त में अध्याय ९, श्लोक ७ में लिखा है - “साधुजन थोड़े समय को शारीरिक थकान को दूर करने के लिए क्षणिक योगनिद्रा ग्रहण करते हैं। वस्तुतः निद्रा भी योग के तुल्य है, क्योंकि निद्रा में इन्द्रिय, आत्मा, मन और श्वास सूक्ष्म अवस्थारूप हो जाते हैं।”

इस संबंध में भावदीपिकाकार कहते हैं - “रात्रि के पिछले प्रहर में प्रासुक पृथ्वी पर अल्पनिद्रा सहित सोते हैं। जन्तुरहित पृथ्वी को देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके शयन करते हैं। पिच्छिका से जीवों का ही परिमार्जन करते हैं, कंकड़ादि को नहीं हटाते।

भूमि शयन इन्द्रिय सुखों का परिहार करने के लिए, तप की भावना के लिए और शरीर आदि से निःस्पृहता आदि के लिए किया जाता है। इस गुण के पालन से शरीर के प्रति ममत्व का निरास होता है।

४. अदन्तधोवन - मूलाचार में लिखा है - “संयम की रक्षा हेतु मुनिजन अंगुली, नख, दांतोन, तृण-विशेष, पत्थर, छाल आदि के द्वारा दांत के मल का शोधन नहीं करते। यह अदन्तधोवन मूलगुण है।

५. अस्नानव्रत - जल का सिंचन, उबटन, तैलमर्दन, शरीरसंस्कार आदि का त्याग करना, अस्नान मूलगुण है। मुनि शरीर का किंचित् भी संस्कार नहीं करते। मुख, नेत्र और दांतों का प्रक्षालन, शोधन, सुगन्धित द्रव्य से उबटन, अङ्गमर्दन, मुष्टि, काष्ठ-यंत्र आदि से शरीर दबाना आदि मुनि नहीं करते तथा शरीर के अवयवों को धूप से सुगन्धित करना अथवा रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए, मानसिक आह्लाद के

लिए धूप का प्रयोग करना, नेत्रों में काजल लगाना, सुगन्धित तेल से शरीर संस्कार, चन्दनादि का शरीर पर लेपन, नासिकाकर्म (नेति करना) नसों को वेधकर रक्त निकालना आदि कार्य भी मुनि अपने शरीर-संस्कार के निमित्त कभी नहीं करते।

**६. खड़े-खड़े आहार लेना** – मूलाचार में कहा है कि – “दीवार आदि का सहारा न लेकर, जीव-जन्तु से रहित, तीन प्रकार की भूमि की शुद्धिपूर्वक, समपाद खड़े होकर, दोनों हाथ की अंजुली बनाकर भोजन करना, स्थितिभोजन मूलगुण है।”

भावदीपिका में कहा है – “खड़े रहकर पाणिपात्र में आहार लेना। अपने हाथ की अंगुली को पाणिपात्र या करपात्र कहते हैं। अपने दोनों हाथों की अंगुलियाँ मिलाकर पात्र बनाते हैं, उसमें गृहस्थ भक्तिपूर्वक ग्रास रखते हैं, उस ग्रास को मुख में ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जल ग्रहण करते हैं, उस जल से अन्तर-बाहर मुख और हस्ताशिद शुद्ध करके आहार करते हैं – ऐसे खड़े-खड़े भोजन-पान ग्रहण करना, स्थितिभोजन मूलगुण है।

**७. एकभुक्त आहार** – संयम, ज्ञान, ध्यान, अध्ययन एवं साधना की वृद्धि के लिए जैसा मिले, वैसा ही शुद्धरूप में आहार लेना श्रमण को अपेक्षित है। इसकी पूर्ति दिन में सूर्योदय के तीन घड़ी बीतने पर तथा सूर्यास्त से तीन घड़ी पूर्व तथा दिन के मध्यकाल में एक बार ग्रहण किये सीमित आहार से ही हो जाती है। मुनि एकाधिक बार आहार ग्रहण नहीं करते, क्योंकि एकाधिक बार भोजन संयम में बाधक है।

केशलोच से लेकर एकभुक्त तक के शेष सात मूलगुण श्रमण के बाह्य चिन्ह हैं। अन्तरंग कषायमल की विशुद्धि के लिए बाह्य क्रियाओं की शुद्धता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य

स्थापित करने, शरीर को कष्टसहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा और लोकभय से ऊपर उठने के लिए भी ये सात मूलगुण महत्त्वपूर्ण हैं।”

छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुण के अतिरिक्त अन्यवृत्ति नहीं होती। ये अट्ठाईस मूलगुण तो व्यवहार से हैं। परमार्थ से तो स्वरूप में रमना – यह एक ही मूलगुण है। यहाँ सामायिक पूर्वक छेदोपस्थापना की बात की गई है। इसमें शुभ का निषेध करके निर्विकल्प सामायिकदशा हो गयी है; फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवें गुणस्थान में मुनिराज ये २८ मूलगुण पालते हैं।

इसप्रकार मुनिराज के २८ मूलगुणों की निश्चय-व्यवहार नय सापेक्ष संक्षिप्त चर्चा हुई। शेष चर्चा अगले तत्त्वोपदेश में होगी। ॐ नमः।

१. जहजायरुवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहादि हत्थेसु।  
जइ लेइ अप्पबहुयं ततो पुण जाइ णिगोदं।।
२. नियमसार गाथा ५६ से ६०
३. नियमसार गाथा ४८
४. मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार-७, पृष्ठ २२८
५. नियमसार गाथा १४१-१४२
६. छहढाला छठवीं ढाल

### विनय से वन्दन करूँ

जो निरन्तर किया करते आत्मा में ही रमन।  
मूलगुण अठबीसयुत निर्ग्रन्थ मुनियों को नमन।।  
विनय से वन्दन करूँ मैं मुनी बनने के लिए।  
मुक्तिमग आरूढ़ होऊँ, मुक्त होने के लिए।।

– रतनचन्द भारिल्ल



संसारी प्राणियों के दुःखों को देख-देख करुणानिधान आचार्यश्री ने अपने प्रवचन तो नियमित चालू रखे ही, उपाध्यायश्री को भी आदेश दिया कि मुनि संघ को पढ़ाने के साथ-साथ सामान्य श्रोताओं को भी संघ के साथ पढ़ाने एवं तत्त्वचर्चा में सम्मिलित करें।

पिछले प्रवचन में आये विषय को स्मरण दिलाने के प्रयोजन से आचार्यश्री ने एक प्रश्न पूछा - “बताओ मुनियों के मूलगुण कितने व कौन-कौन से हैं?” उत्तर मिला - “मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं -

**पंचमहाव्रत समिति पन, पंचेन्द्रिय जय पाय ।**

**छह आवश्यक सप्त गुण, गुण अठवीस कहाय ॥**

पुनः दूसरे श्रोता से पूछा - सात शेष गुणों के नाम बताओ?

उत्तर मिला - केशलुंच अचेलकपना, एकभुक्त व्रतधार ।

अदंतधोवन अस्नानव्रत, खड़े-खड़े आहार ॥

भूमि शयन पिछली रयन, सोवत हैं ऋषिराज ।

सात शेष गुण इस तरह पालत हैं मुनिराज ॥

संतोषजनक उत्तर पाकर विषय को आगे बढ़ाते हुए आचार्यश्री ने कहा - “देखो! मुनि के तेरह प्रकार के चारित्र के भेदों में पाँच महाव्रत एवं पाँच समितियाँ तो मूलगुणों में चर्चित हो ही गई हैं - शेष तीन गुप्तियों का संक्षिप्त स्वरूप अर्थप्रकाशिका के अनुसार निम्न प्रकार है -

संसार परिभ्रमण के कारणों से आत्मा की रक्षा करना गुप्ति है तथा ‘सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः’ अर्थात् मन-वचन-काय रूप योगों की बाह्य प्रवृत्ति को एवं योगों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोककर योगनिग्रह करना गुप्ति है।

पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं - ‘वीतरागभाव होने पर मन-वचन-काय की चेष्टा का न होना ही गुप्ति है।’ अज्ञानी जीव बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चिन्तवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे; इसे ही गुप्ति मानता है। सो यहाँ तो मन में भक्तिरूप प्रशस्तराग से भी

नाना विकल्प होते हैं, वचन-काय की चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है; वहाँ शुभप्रवृत्ति है, परन्तु प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है।”

जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त होना सो मनोयोग है, वचन के साथ युक्त होना सो वचनयोग है और काय के साथ युक्त होना सो काययोग है तथा उक्त तीनों प्रवृत्तियों की निवृत्ति होना क्रमशः मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। पर्याय में शुद्धोपयोग की हीनाधिकता होती है, तथापि उसमें शुद्धता की जाति तो एक ही प्रकार की है। जब जीव वीतरागभाव के द्वारा स्वरूपगुप्त रहता है, तब मन, वचन और काय की ओर का आश्रय छूट जाता है। यही निश्चयगुप्ति है।

सर्व मोह-राग-द्वेष को दूर करके अखण्ड अद्वैत परम चैतन्य में भली-भांति मन का स्थित होना निश्चय मनोगुप्ति है। सम्पूर्ण असत्यभाषा को इस तरह त्यागना कि मूर्तिक द्रव्य में, अमूर्तिक द्रव्य में या दोनों में वचन की प्रवृत्ति का रुकना और जीव का परम चैतन्य में स्थिर होना, निश्चय वचनगुप्ति है। संयमधारी मुनि जब अपने चैतन्यशरीर से जड़ शरीर का भेदज्ञान करता है, तब अंतरंग में चैतन्यशरीर में निश्चलता होना निश्चय कायगुप्ति है।

छठवें गुणस्थानवर्ती साधु के शुभभावरूप गुप्ति भी होती है, इसे व्यवहारगुप्ति कहते हैं; किन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह शुभ विकल्प है, इसलिए ज्ञानी उसे हेय समझते हैं; क्योंकि इससे बंध होता है। इसे दूर कर साधु निर्विकल्प दशा में स्थिर होते हैं, इस स्थिरता को अस्ति से निश्चयगुप्ति कहते हैं। यह निश्चयगुप्ति संवर का सच्चा कारण है। इस प्रकार मुनियों के तेरह प्रकार का चारित्र होता है।

**साधु के १० स्थितिकल्प - १. अचेलकत्व, २. उद्दिष्ट भोजन का त्याग, ३. वसतिका बनवाने या सुधरवाने का त्याग, ४. राज परिवारों के घर भोजन का त्याग, ५. कृतिकर्म अर्थात् साधुओं की विनय शुश्रूषा आदि करना । ६. योग्य पात्र को ही व्रत देना । ७. अपने से ज्येष्ठ का योग्य विनय**

नोट : चतुर्थ स्थितिकल्प में राजपरिवारों के घर भोजन का त्याग जो लिखा है उसकी क्या अपेक्षा है, यह हमारी समझ के बाहर हैं, संभवतः इसकी अपेक्षा राजसी भोजन के त्याग से होना चाहिए; क्योंकि प्रथमानुयोग में मुनिराज ऋषदेव को राजा श्रेयांस द्वारा आहार दिया जैसे अनेक उल्लेख मिलते हैं।

करना। ८. प्रतिक्रमण अर्थात् नित्य लगनेवाले दोषों का शोधन करना। ९. मासैकवासता अर्थात् वर्षा काल को छोड़कर छहों ऋतुओं में अधिकतम एक मास पर्यन्त ही एक जगह निवास और १०. वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक स्थान पर निवास करना - ये साधु के दस स्थितिकल्प कहे जाते हैं।<sup>१</sup>

दस प्रकार के स्थिति कल्प की चर्चा सुनकर एक श्रद्धालु श्रावक बोला “गुरुदेव! और तो सब समझ में आया है, परन्तु उद्दिष्ट भोजन त्याग को थोड़ा और स्पष्ट करें। उद्दिष्ट शब्द का अर्थ लोग अलग-अलग ढंग से करते हैं। इस विषय में मेरा सोचना ऐसा है कि ‘श्रावक तो अपनी श्रद्धाभक्ति और उत्साह पूर्वक मुनियों को उनकी प्रकृति और स्वास्थ्य के अनुकूल ऐसा शुद्ध-सात्त्विक आहार देने की भावना रखता है, जिससे मुनिराजों को सामायिक, स्वाध्याय आदि धर्म आराधना में किंचित् भी बाधा या प्रमाद न हो। ऐसी उत्कृष्ट भावना से ही वह सातिशय पुण्यार्जन करता है। पुराणों में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

जैसे - अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों के संघ को धुँआ से मुनियों का गला खराब होने पर सेवइयों का आहार दिया गया था आदि।

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा में यद्यपि भैक्ष्यासन करना कहा<sup>२</sup> है, पर उसका अर्थ भिक्षावृत्ति नहीं है। ‘भैक्ष्यासन’ का भावार्थ प्रथम तो यह है कि - वे किसी के निमंत्रण पर नहीं जाते।

दूसरे, वे अपने आहार के लिए दातार से आरंभ नहीं कराना चाहते। इसकारण आहार के लिए बिना बुलाये ही जाते हैं। जहाँ सहज में अपने योग्य आहार मिलता है तो लेते हैं, अन्यथा उपवास कर लेते हैं।

अतः श्रावक यह सावधानी बरतें कि जब साधु-संतों की आहार हेतु आने की संभावना हो, उस समय वे अपने लिए भी ऐसा शुद्ध-सात्त्विक आहार बनवायें, जिससे साधुओं के लिए अलग से आरंभ न करना पड़े।

**तीसरी बात** - यद्यपि पात्र स्वयं कभी किसी से यह नहीं कहते कि ‘हमारे लिए अमुक प्रकार का ऐसा आहार बनाओ; फिर भी यदि निर्यापक आचार्य द्वारा या वैयावृत्ति करने वालों द्वारा श्रावक को पात्र की बीमारी का पता लग जाये और पात्र से बिना कुछ कहे आहार दाता उनके लिए भी औषधि आदि एवं तदनुकूल आहार बनाता है तो इसमें किसी को भी

कोई दोष नहीं लगना चाहिए - ऐसा मैं समझता हूँ।

आचार्यश्री ने कहा - “तुम्हारा सोचना सही है। यही सभी शास्त्रों में आये कथनों का अभिप्राय है। परन्तु इतना विशेष है कि यदि श्रावक किसी एक मुनि विशेष के उद्देश्य से ही आहार बनाये और अन्य की उपेक्षा करके मात्र उन्हीं को पड़गाहन करे तथा किसी संकेत से मुनि विशेष को सूचित करे कि अमुक मुनि को मेरे घर चौका लगा है तथा तदनुसार मुनि उसी के घर आहार को जायें तो यह उद्दिष्ट आहार का दोष होगा।

इसके विपरीत सम्पूर्ण मुनि संघ के लिए सामान्यरूप से आहार बनाना तथा जो भी मुनि द्वार पर आयें, उन्हें नवधा भक्ति से पड़गाहन करना तो श्रावकों का पावन कर्तव्य है। इसमें उद्दिष्ट का दोष नहीं होता है।

**दूसरी बात** - यह कि बीमार मुनियों को दवायें देने का विधान भी आगम में है। सो वह दवा तो मुनि की बीमारी के अनुरूप ही बनाना होगी! वस्तुतः उद्दिष्ट का यथार्थ अर्थ समझे बिना यह भ्रान्ति नहीं मिटेगी।” वास्तव में ‘उद्दिष्ट’ शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। इसका शब्दार्थ करना उचित नहीं है।

“आहार के ४६ दोषों में जो अधः कर्म आदि १६ उद्गम दोष हैं, वे सब एक उद्दिष्ट शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। आगम में पृथक् से कोई उद्दिष्ट दोष नहीं कहा गया है। उसमें भी दो विकल्प हैं - एक दातार की अपेक्षा उद्दिष्ट और दूसरा पात्र की अपेक्षा उद्दिष्ट।

दातार यदि दातार के १६ दोषों से युक्त आहार बनाता है तो वह द्रव्य से उद्दिष्ट है और यदि पात्र अपने चित्त में अपने लिए बने आहार का विकल्प करता है अथवा भोजन के उत्पादन संबंधी किसी प्रकार का विकल्प करता है तो वह भाव से उद्दिष्ट आहार है। ऐसा उद्दिष्ट आहार साधु ग्रहण नहीं करते हैं।<sup>४</sup>”

चातुर्मास में सैंकड़ों मुनियों का संघ एक स्थान पर ठहरता है। प्रत्येक श्रावक यह चाहता है कि अधिकतम मुनिराजों का आहार मेरे घर हो, एतदर्थ वे अति उत्साह से चौका लगाते हैं, भोजन के समय दरवाजे पर खड़े-खड़े प्रतीक्षा करते हैं। इससे उन्हें विशेष पुण्यार्जन होता है।

**तीसरी बात** - पड़गाहन के पहले चूल्हा बुझाना, धुँआ न होना आदि क्रियायें श्रावक अपने लिए तो नहीं करता, उसके लिए ऐसा करना



बिल्कुल आवश्यक नहीं है। ये क्रियायें तो मुनि के निमित्त ही होती हैं?

चौथी बात - उद्दिष्ट भोजन के त्यागी तो मुनिराज होते हैं, अतः वे किसी श्रावक से अपने लिए भोजन बनाने को कहेंगे भी नहीं और कोई संकेत भी नहीं देंगे, बल्कि वृत्तिपरिसंख्यान तप के अनुसार अपने मन में कोई कठिन संकल्प लेकर मौन धारण कर सिंहवृत्ति से आहार को निकलेंगे। जहाँ उन्हें नवधा भक्ति पूर्वक आहार मिल जायेगा, निरीहता से छियालीस दोषों को टालकर आहार ग्रहण करते हैं। श्रावक को नवधाभक्ति में यह कहना आवश्यक भी नहीं है कि 'ये आहार मैंने अपने लिए ही बनाया है, आपके लिए नहीं।' इन सब दृष्टिकोणों से यह विषय विचारणीय है।

**मुनियों के लिए निषिद्ध कार्य - शरीर संस्कार न करना** - जिन्होंने पुत्र, स्त्री आदि से प्रेम सम्बन्ध छोड़ दिया है और जो अपने शरीर के प्रति भी ममतारहित हैं, ऐसे साधु शरीर के संस्कार नहीं करते जैसे कि - मुख, नेत्र और दांतों का धोना, शोधना, पखारना, उबटन करना, अङ्गमर्दन करवाना, मुट्टी से शरीर का ताड़न करना, काठ के यंत्र से शरीर का कूटना, पीड़ना, ये सब शरीर के संस्कार हैं।

धूप से शरीर का संस्कार करना, कण्ठशुद्धि के लिए वमन करना, औषध आदि से दस्त लेना, अंजन लगाना, तेल से मर्दन करना, चन्दन, कस्तूरी का लेप करना, सलाई बत्ती आदि से नासिकाकर्म (नेति) तथा मल शोधन हेतु एनिमा (वस्तिकर्म) साधु नहीं करते।

सरागी श्रमण, वीतरागी श्रमण एवं व्यवहारालम्बी श्रमण की पहचान यह है कि जो दोषरहित सम्यग्दर्शन से विशुद्ध तथा मूल व उत्तर गुणों से संयुक्त हैं, जिनका सुख और दुःख में समभाव होता है तथा जो आत्मध्यान में लीन रहते हैं, जो अशुभ और शुभ - दोनों ही प्रवृत्तियों के राग से रहित है, वह वीतराग श्रमण हैं एवं जो अशुभ प्रवृत्तियों के राग से तो रहित है, किन्तु व्रत आदि शुभ प्रवृत्तियों के राग से संयुक्त है, वे सराग श्रमण हैं। तथा जो सात तत्त्वों का भेदरूप से श्रद्धान करते हैं, तथा भेद-रत्नत्रय की साधना भी करते हैं, पर अभेद अखण्ड एक आत्मद्रव्य का आलम्बन नहीं लेते वे मुनि व्यवहारालम्बी है।<sup>१५</sup>

### साधुत्रय का सामान्य स्वरूप

१. आचार्य परमेष्ठी - जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य -

इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं तथा जो चौदह विद्यास्थानों के पारंगत हैं, ग्यारह अंग के धारी हैं अथवा आचारांग मात्र के धारी हैं अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हैं, मेरु के समान निश्चल हैं, पृथ्वी के समान सहनशील हैं, जिन्होंने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया है और जो सात प्रकार के भय से रहित हैं।

जो प्रवचनरूपी समुद्र में स्नान करने से तथा परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरुपर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, जो संघ को दीक्षा और अनुग्रह करने में कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, व्रतों की शुद्धि करनेवाली क्रियाओं में निरन्तर उद्युक्त हैं, वे आचार्य परमेष्ठी हैं।

२. उपाध्याय परमेष्ठी - चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर पहले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं। जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके, परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

३. साधु परमेष्ठी - जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुणियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

आत्मा के ज्ञानपूर्वक वैराग्य होने से, समस्त परिग्रह छोड़कर अन्तर में शुद्धोपयोग द्वारा तीन कषायों का अभाव होने पर मुनिदशा प्रगट होती है। मुनिधर्म शुद्धोपयोगरूप है। उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है अर्थात् मुनि होनेवाले को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो पहले हो चुके हैं। इसलिए

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही मुनि होते हैं।

परद्रव्य में अहंबुद्धि न होने से परद्रव्य को मुनि जानते तो हैं, किन्तु उसे इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते। अविरत सम्यक्त्वी को भी पर में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि तो नहीं है, किन्तु उन्हें अभी राग-द्वेष होता है और मुनिदशा में तो वीतरागता प्रगट हो गयी है। अतः वे उनसे ममत्व नहीं करते।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने साधुओं का जो सामान्य स्वरूप लिखा है, वह स्तुत्य है। वे लिखते हैं - १. जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अंतरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं। २. परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते। ३. अपने ज्ञानादिक स्वभावों को ही अपना मानते हैं। ४. परभावों से ममत्व नहीं करते। ५. परद्रव्य तथा उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो अवश्य हैं; किन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें राग-द्वेष नहीं करते। ६. शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य में अनेक प्रकार के निमित्त आते हैं, किन्तु वे मुनि वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते। ७. अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसी होती है, वैसी होती है, किन्तु उसे खींच-तानकर नहीं करते। ८. वे अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते, किन्तु उदासीन होकर निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं। ९. कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग होता है, जिसके द्वारा वे शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर दूर करने की इच्छा करते हैं। १०. भोजन के त्याग से शरीर को अधिक क्षीण होता जाने तो ऐसा विचार करते हैं कि यदि यह शरीर क्षीण होगा तो परिणामों को शिथिल करेगा और परिणाम शिथिल होंगे तो ध्यान-अध्ययन नहीं सधेगा। इस शरीर में मुझे कोई बैर तो नहीं है, जो इसको क्षीण ही करूँ मुझे इस शरीर से राग भी नहीं, जो इसका पोषण ही करूँ। इसलिए मुनिराज को शरीर से राग-द्वेष का अभाव होने से जिस कार्य से उनका ध्यान-अध्ययन सधे, वही कार्य करते हैं।

इसप्रकार मुनिराज पवन, गर्मी, कोलाहल एवं मनुष्य आदि के गमन के स्थानों में जानबूझकर नहीं बैठते हैं। वे वहाँ बैठते हैं, जहाँ ध्यान-

अध्ययन से परिणाम च्युत न हों।

हाँ, मुनि के ध्यान में विराजने के पश्चात् यदि कोई उपसर्गादि बाधक कारण प्राप्त हों तो फिर ध्यान को छोड़कर नहीं जाते हैं। शीत ऋतु में नदी के तीर पर ध्यान धारण करते हैं, ग्रीष्म ऋतु में तप्त शिला के ऊपर एवं पर्वत के शिखर पर ध्यान धारण करते हैं। चातुर्मास में वृक्षों के नीचे ध्यान करते हैं, वे अपने परिणामों की विशुद्धता के अनुसार ध्यान करते हैं।

जब तक मुनिराज के परिणाम ध्यान में स्थिर रहते हैं, तब तक तो ध्यान को छोड़कर अन्य कार्य नहीं विचारते हैं। ध्यान से परिणाम नीचे आये, तब शास्त्राभ्यास करते हैं एवं दूसरों को कराते हैं तथा अपूर्व जिनवाणी की आज्ञानुसार ग्रन्थ का अवलोकन करते हैं।

ध्यान में उपयोग की स्थिरता अल्पकाल रहती है और शास्त्राभ्यास में उपयोग की स्थिरता बहुत काल रहती है; इसलिए मुनि ध्यान धारण करते हैं, शास्त्र बांचते हैं और उपदेश भी देते हैं। स्वयं भी गुरु से पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं। मूलग्रन्थों के आधार पर नवीन ग्रन्थों को रचते हैं। ऐसे मुनिराज त्रिकाल वंदनीय और स्मरणीय हैं।

**समभावी मुनिराज** - कोई पुरुष, आकर मुनि को गाली देता है एवं उपसर्ग करता है तो उस पर बिलकुल भी क्रोध नहीं करते; अपितु परम दयालु बुद्धि होने से उसका भला ही चाहते हैं।

वे ऐसा विचार करते हैं कि “यह भोला जीव है, इसे अपने हित-अहित की खबर नहीं है। यह जीव इन परिणामों से दुःख पायेगा। मेरा तो कुछ बिगाड़ नहीं है; परन्तु यह जीव संसार-समुद्र में डूबेगा। इसीलिए जो कुछ भी हो, इसको समझाना चाहिए” - ऐसा विचार कर भव्य जीवों को हित-मित-प्रिय वचनों से समझाते हैं।

ऐसे दयालु श्रीगुरु के वचन सुनकर वह पुरुष संसार के भय से कम्पायमान होता हुआ, शीघ्र ही गुरु के चरणों में नमस्कार कर, अपने किए अपराध की निन्दा करता हुआ क्षमा याचना करता है तो मुनि उसे क्षमादान करते हुए निर्भय करते हैं।

मुनिराज अपने ज्ञानरस में तृप्त हैं, छक रहे हैं; इसलिए बाहर निकलते ही नहीं हैं। कदाचित् पूर्व की वासना से बाहर निकलते हैं तो उन्हें यह जगत इन्द्रजालवत् भासित होता है। अतः तत्क्षण ही स्वरूप में चले जाते

हैं। इससे उन्हें आनन्द उपजता है और हृदय गद्गद् होता है।

कभी तो जगत के जीवों को उनकी जगत से उदासीन गंभीर मुद्रा दिखाई देती है और कभी मानो उन्होंने निधि प्राप्त की हो - ऐसे हंसमुख मुद्रा प्रतिभासित होती है। मुनिराज की ये दोनों दशाएं अत्यन्त सहज होती हैं।

मुनि को पर के सुख-दुःख मानने का अभाव होता है। आकुलतापूर्वक पर को जानने नहीं जाते, किन्तु जो परद्रव्य उनके ज्ञान में सहज ज्ञात होते हैं, उन्हें वे जानते हैं; परन्तु उनमें ममत्व नहीं करते और न इष्ट-अनिष्टपना मानकर राग-द्वेष करते हैं।

शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, रोगादि होते हैं और अनेकप्रकार के बाह्य सुख-दुःख के निमित्त आते हैं, किन्तु वे उनमें किंचित् भी सुख-दुःख नहीं मानते - ऐसी मुनि की बाह्य दशा होती है।

इन्द्र आकर पूजा करें या सिंह-चीते आकर शरीर को फाड़ खायें, उसमें मुनि सुख-दुःख नहीं मानते। यद्यपि सम्यक्त्वी भी पर से सुख-दुःख नहीं मानते, किन्तु मुनि को तो स्वरूप की स्थिरता विशेष होने से अधिक वीतरागता हो गयी है, इसलिए उन्हें हर्ष-शोक भी नहीं होता।

### मुनि बाह्य क्रिया खींच-तानकर नहीं करते

अपनी मुनिदशा के योग्य बाह्य क्रिया जैसी होती है, वैसी होती है, किन्तु उसे खींच-तानकर नहीं करते। उदासीनरूप से सहज ही बाह्य क्रिया होती है। इतने समय में मुझे अमुक स्थान तक विहार करना ही पड़ेगा, अमुक प्रसंग पर मुझे बोलना ही पड़ेगा - ऐसी बाह्य क्रिया की बाध्यता मुनि के नहीं होती। यहाँ जो मुनिदशा के योग्य हो - ऐसी बाह्य क्रिया की ही बात है; जो मुनिदशा में योग्य न हो - ऐसी बाह्य क्रियाएँ मुनि के होती ही नहीं हैं।

मुनि अपने उपयोग को बहुत भटकाते नहीं हैं, किन्तु उदासीन होकर निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं। तीन कषायों का नाश होने से वीतरागी स्थिरता प्रगट हुई है, इसलिए वे उपयोग लौकिक बातों में नहीं भ्रमाते। लौकिक पुस्तकें आदि नहीं पढते। जहाँ-तहाँ उपयोग को नहीं ले जाते। यद्यपि अभी स्वरूप में उपयोग पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ है, इसलिए बाह्य में भी जाता है; किन्तु उसे अधिक नहीं घुमाते; मुख्यतया तो शुद्धोपयोग की ही साधना करते हैं। मुनियों के शुद्धोपयोग की प्रधानता है और

शुभोपयोग गौण है।

### शुभोपयोग को उपादेय नहीं मानते

यदि करुणाबुद्धि आती है तो मात्र तत्त्वोपदेश ही देते हैं, लौकिक सुख के साधन नहीं बताते। कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है; परन्तु संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में छठवाँ गुणस्थान होता है - ऐसा गोम्मटसार में कहा है, वह निमित्त सापेक्ष कथन है; वास्तव में जीव को स्वयं वैसे-वैसे निर्विकल्पदशा आती ही रहती है, इसलिए शुद्धोपयोग का प्रयत्न वर्तता ही रहता है।

पंच महाव्रतादि का विकल्प सदैव बना ही रहे - ऐसा नहीं होता। इसलिए कहा है कि कदाचित् मन्दराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है। 'भी' कहकर शुभोपयोग की गौणता बतलायी है। मुख्य उद्यम तो शुद्धोपयोग का ही है। शुभोपयोग के समय मुनि शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में - स्वाध्याय, महाव्रतादि में अनुराग करते हैं; परन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर दूर करने की इच्छा रखते हैं।

देखो, यहाँ शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का बाह्य साधन कहा है, किन्तु उसे हेय कहा है अर्थात् शुभ को हेय करके अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से शुद्धोपयोग प्रगट करे तो उस शुभ को बाह्य साधन कहा जाता है। शुद्धोपयोग का सच्चा साधन तो अन्तरस्वभाव का अवलम्बन ही है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि मुनि को छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग होता है, किन्तु उसके आधार से मुनिपना टिकता नहीं है; मुनिपना तो उस समय भी अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से होनेवाली वीतरागता स्थिरता से ही अवस्थित है। मुनिपना संवर-निर्जरारूप है और शुभोपयोग आस्रव है। मुनि उस शुभराग को हेय जानते हैं।

इसप्रकार आज के उपदेश में मुनिराजों के उत्तरगुणों की चर्चा में निषिद्ध कृतिकर्म, साधुत्रय का स्वरूप, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन, समभावी मुनिराज आदि की बात बताई। अब अगले प्रवचन में मुनि के आहारदान आदि उत्तरगुणों की चर्चा करेंगे। ॐ नमः।

१. माक्षिमि प्रकाशक, पृष्ठ-२२८  
२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १४७  
३. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग-१, पृष्ठ-४१३  
४. तत्त्वार्थसार, अधिकार-९, श्लोक-५



आचार्यश्री के प्रवचन की प्रतीक्षा में बैठे-बैठे सहस्रों श्रोता विगत प्रवचन में आये विषयों की परस्पर चर्चा कर रहे थे और आचार्यश्री द्वारा दिये गये मार्गदर्शन की तथा तत्त्वज्ञान के सरल विवेचन के प्रति प्रसन्नता प्रगट करते हुए अपने भाग्य की सराहना कर रहे थे।

एक ने कविता में कहा -

**“मंगलमय अवसर आया, मुनिवर का प्रवचन पाया।**

**सुन कर मन हरषाया, मानव भव सफल बनाया।।”**

दूसरा बोला - वाह ! तुम तो आशु कवि हो। तत्काल कविता बना लेते हो। सचमुच हम सब बड़े भाग्यशाली हैं, अन्यथा किसे मिलते हैं ऐसे प्रवचन? तभी आचार्य महाराज ससंघ सभामंडप में पधार गये, श्रावकों द्वारा वंदना के पश्चात आचार्य श्री ने अपने व्याख्यान को प्रारंभ करते हुए कहा - “दिगम्बर मुनि के अन्तर-बाह्य स्वरूप की चर्चा के प्रसंग में आज मुनि की आहार चर्चा तथा उनके बारह तप की चर्चा करेंगे।

सर्वप्रथम यह बतायेंगे कि आहार दाता कैसा होता है ? पात्र कैसा होता है और आहार तथा आहार की विधि कैसी होती है? - इस सबकी संक्षिप्त चर्चा करने के बाद १२ तपों की आगम के आधार पर चर्चा करेंगे। अतः सभी श्रोता सावधान होकर सुनें और समझने का प्रयास करें।

श्रावक द्वारा नवधाभक्ति से ही आहार लेने के पीछे यद्यपि मुनियों को अपनी भक्ति कराने का लोभ नहीं होता, तथापि वे स्वाभिमान के साथ शुद्ध आहार लेते हैं। वे ऐसे वैराग्यवंत होते हैं कि - शरीर के लिए सदोष और दीक्षा से आहार नहीं लेते। एतदर्थ श्रावक को नवधाभक्ति करना आवश्यक है, अन्यथा मुनि श्रावक के द्वार पर रुकेंगे ही नहीं।

नवधाभक्ति में मुनि को आहार के लिए अपने घर की ओर आते

देखकर सर्वप्रथम श्रावक द्वारा श्रद्धापूर्वक कहा जाता है कि -

१. हे स्वामी ! “पधारो...पधारो...पधारो” अथवा “अत्र तिष्ठः तिष्ठः तिष्ठः” - ऐसा तीन बार विनय सहित कहना प्रतिग्रह या पड़गाहन कहलाता है।

२. फिर “मन वचन काय शुद्ध हैं” इसप्रकार शुद्धि बोलते हैं।

३. पड़गाहन के बाद उच्च आसन, पादप्रक्षाल (पैर धोना) होता है।

४. पूजन सामग्री (अष्ट द्रव्य) से विधिपूर्वक पूजन की जाती है।

५. आहार दाता घुटने टेककर पंचाग प्रणाम करता है।

६. मनशुद्धि हेतु संसार, व्यापार संबंधी अशुभ विकल्प नहीं करता।

७. वचनशुद्धि में आहारदान के समय कठोर वचन नहीं बोलता।

८. कायशुद्धि - बाह्य शारीरिक अशुद्धि नहीं रखता।

९. आहारशुद्धि - शास्त्रानुसार निर्दोष आहार हो -

यह नवधा भक्ति साधु के स्वाभिमान की प्रतीक है।

इसप्रकार प्रसन्नतापूर्वक आहार देता है कि “अहो ! धन्य मेरा भाग्य, जो मेरे आंगन में मुनिराज का आगमन हुआ।” इसप्रकार उत्तम पात्र मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक और मध्यम-जघन्य पात्र को उनके योग्य विनय सहित आहार दान देता है।

मुनि की भ्रामरी या मधुकरी वृत्ति होती है। आहारदाता पर भाररूप हुए बिना आहार लेना भ्रामरी वृत्ति है। इस आहार को भ्रमराहार भी कहते हैं। जैसे भ्रमर फूलों को हानि पहुँचाये बिना फूलों का थोड़ा रस पीकर अपने को तृप्त कर लेता है, वैसे ही लोक में अपरिग्रही श्रमण दातार द्वारा दिये गये निर्दोष आहार को निर्दोष विधि से ग्रहण करते हैं।

मुनि के आहार की चर्चा करके यह कहा गया है कि - अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करनेवाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी किसी को कष्ट न पहुँचाये तथा जीवन को संयम और तपोमय बनाकर धर्म और धार्मिकों की एकता स्थापित करे।

**मूलाचार** के अनुसार - 'सूर्योदय के तीन घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक का काल आहार का काल है।'

तात्पर्य यह है कि गाँव, नगर आदि में सामान्यतया जिस काल में शुद्ध आहार तैयार होता है तथा ऋतु परिवर्तन के अनुसार यत्किंचित् परिवर्तित काल में साधु आहारचर्या के लिए गमन करते हैं।

**भगवती आराधना** का विजयोदया टीका में - तीन प्रकार के आहारकाल के विषय में विचार किया गया है।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म का प्रथम साधन शरीर ही है, जिसे भोजन-पान-शयनादि के द्वारा धर्म साधन के अनुकूल रखना आवश्यक है, किन्तु इस दिशा में उतनी ही प्रवृत्ति होती है, जिससे इन्द्रियाँ अपने अधीन बनी रहें। इसीकारण मुनि का आहार शुभभाव है।

**रयणसार** के अनुसार 'जो साधु ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के निमित्त यथालाभ भोजन ग्रहण करता है, वह साधु मोक्षमार्ग में रत है।'

श्रमण आहारचर्या के लिए निकलने पर अपना आगमन सूचित करने के लिए शब्दादि के संकेत नहीं करते, अपितु बिजली की चमक के सदृश अपना शरीरमात्र दिखा देना ही पर्याप्त समझते हैं। यदि श्रावक पड़गाहन करे तथा संकल्पानुसार विधि मिल जाय तो श्रावकों द्वारा प्रार्थना करने पर वहीं खड़े होते हैं, जहाँ से दूसरे साधु भी खड़े होकर भोजन प्राप्त करते हैं।

जिस आहारदाता में पात्र के प्रति भक्ति, श्रद्धा एवं सन्तोष, निर्लोभता, क्षमा आदि गुण होते हैं, वह आहारदाता विशेष पुण्यार्जन करता है।

मुनि का आहार नवकोटि से शुद्ध हो, छयालीस दोषों से रहित हो, संयोजना से हीन हो, प्रमाण सहित हो, नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया हो, अंगार और धूमदोषरहित हो, मोक्षयात्रा के लिए साधनमात्र हो तथा मल दोषों से रहित हो - साधु ऐसा अनुदिष्ट आहार ग्रहण करते हैं। ऐसे

निर्दोष आहार को ही उद्दिष्ट रहित आहार कहते हैं। इससे हटकर उद्दिष्ट शब्द का अन्य कुछ अर्थ नहीं है।

मुनि प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यान रूप अन्तरंग तप तथा अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेशरूप - इसप्रकार बारह प्रकार के बहिरंग तप आदरते हैं। कभी-कभी ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं। मुनियों को छठवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता। बार-बार सातवें गुणस्थान की निर्विकल्प दशा होती ही रहती है। इसीकारण वे रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब शयन करते, उस समय भी वे अन्तर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान में चले जाते हैं।

अन्तर-बाह्य चारित्र का पालन करनेवाले मुनिराज हम सबके लिए भगवान अरहंत-सिद्ध के समान ही वन्दन-पूजन करने योग्य होते हैं। हम प्रतिदिन देव-शास्त्र-गुरु पूजा में उनकी पूजा भक्तिभाव से करते भी हैं।

दिगम्बर मुनिराज के पास संयम की साधन पिच्छी और शुद्धि का साधन कमण्डल के सिवाय अन्य कोई परिग्रह नहीं होता। वे घोर उपसर्ग और परिषहों में भी अन्तर-बाह्य चारित्र से विचलित नहीं होते। अनन्तानुबंधी आदि तीनकषाय चौकड़ी के अभाव में अन्तरंग शुद्धिपूर्वक अट्टाईस मूलगुण एवं तेरह प्रकार के चारित्र का पालन मुनिराज के बाह्य लक्षण हैं। मुनिराज का यह स्वरूप क्षेत्र एवं काल से प्रभावित नहीं होता। विदेह क्षेत्र में एवं भरत क्षेत्र में तथा चतुर्थ काल में एवं पंचम काल में सदा एक जैसा ही रहता है। इसमें क्षेत्र काल के अनुसार शिथिलता नहीं होती, क्योंकि क्षेत्र के कारण धर्म का स्वरूप नहीं बदलता।

जैसे आग तो सर्वत्र एवं सदा उष्ण ही रहती है; उसीप्रकार धर्म तो सर्वत्र वीतरागरूप ही होता है। इसकारण मुनिधर्म का देश-काल की परिस्थितियों में भी समझौता संभव नहीं है।

मुनिपद विशुद्ध आत्मकल्याण के लिए धारण किया जाता है। यह पद अलौकिक है, अतः उनके सहज ही लौकिक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। उन्हें किसी भी लौकिक कार्य से कोई प्रयोजन ही नहीं होता।

मुनिराज समस्त अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागी होने के साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयों के त्यागी भी होते हैं। इसकारण उनको वस्त्रादि की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः वे नग्न ही रहते हैं।

कहा जा सकता है कि लज्जा के कारण मुनिराजों को वस्त्र तो स्वीकार कर ही लेना चाहिए, पर यह सोच सही नहीं है; क्योंकि मुनिराजों ने लज्जा परिषह पर भी विजय प्राप्त कर ली है। उनकी नग्नता निर्विकारता की सूचक है तथा लज्जा स्वयं एक स्थूल विकार है, जो मनुष्य को तन ढकने के लिए बाध्य करता है, किन्तु मुनिराज गोदी के छोटे बालक की भांति पूर्ण निर्विकारी हो गये हैं। अतएव उन्हें वस्त्र की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती।

जिसतरह गोदी के नंगे बालकों को माँ अपना दूध पिलाते हुए भी लज्जित नहीं होती, अन्य नारियाँ भी उसे गोद में लेकर खिलाती हुई लज्जित नहीं होतीं, बल्कि पवित्र प्रेम से उसे गले लगाती हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि भले ही वे निर्विकारी हो गये; पर देखनेवालों के परिणाम तो बिगड़ते ही हैं न ! अतएव मुनिराजों को वस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए।

यह बात भी अविचारित रम्य है, क्योंकि जो मुनिराज के निर्विकाररूप को नहीं समझते, उन्हें मुनिराज को देखकर विकार हो सकता है, किन्तु उनके विकार के कारण मुनिराज नहीं हैं; क्योंकि जिनका स्वयं का मन विकारयुक्त है, उन्हें तो सवस्त्र पुरुषों एवं स्त्रियों को देखकर भी विकार हो सकता है। जिनको विकार पैदा होता है, उन्हें ही अपना विकार प्रक्षालित करना पड़ेगा।

दिगम्बर मुनिराज की नग्न वीतराग मुद्रा को देखकर तो देखनेवाले श्रद्धा से अभिभूत होकर एवं उनकी त्याग-तपस्या पर चकित होकर उनके चरणों में झुक जाते हैं, नतमस्तक हो जाते हैं; अतः मुनियों के दर्शकों के चित्त में विकार उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

यह तर्क भी दिया जाता है कि जब वस्त्रों से उन्हें राग-द्वेष नहीं है तो वस्त्रों के रहने और न रहने से उन्हें क्या आपत्ति है ?

यह बात सत्य है कि वस्त्र से उन्हें राग-द्वेष पैदा नहीं होते, परन्तु वस्त्र के प्रति राग टूट जाने पर शरीर पर वस्त्र रहते ही नहीं। शरीर पर वस्त्रों की सम्हाल राग के बिना कैसे होगी? लोक में इसप्रकार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में देखे जा सकते हैं। जैसे उपवास में भोजन के प्रति राग टूट जाने के कारण स्वतः ही भोजन करने की क्रिया नहीं देखी जाती।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट मुनिराज के अनिवार्यरूप से अट्टाईस मूलगुण होते हैं, जिनका वे निर्दोष पालन करते हैं। उन २८ मूलगुणों में नग्नता भी एक गुण है।

दिगम्बर मुनिराज परीषहों अथवा उपसर्गों को दूर करने के लिए किसी भी प्रकार का उपाय नहीं करते। कोई भी वाहन एवं जूता-चप्पल आदि का उपयोग नहीं करते। सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कोई साधन का उपयोग नहीं करते। यदि कोई अविवेकी गृहस्थ उनके लिए किसी त्याज्य वस्तु का उपयोग करता है तो वे उसको उपसर्ग समझते हैं। धर्म और समाज के नाम पर मुनिराज अपने लिए तथा समाज के लिए धर्मशाला वसतिका, मन्दिर, तीर्थ आदि बनाने अथवा बनवाने का कोई भी भार स्वीकार नहीं करते। उनको इसप्रकार का कोई विकल्प ही नहीं होता; क्योंकि इन कार्यों में आरंभजनित हिंसा होती है, जिसके मुनि सर्वथा त्यागी होते हैं।

मुनिराज अट्टाईस मूलगुण एवं तेरह प्रकार के चारित्र का निर्दोष पालन करते हैं, अतः वे श्रावकों द्वारा वन्दनीय हैं, यद्यपि मुनि को वन्दन,

नमन आदि कराने का भाव ही नहीं; तथापि जो उन्हें वंदन नहीं करता, उसे सच्चे गुरु का अवर्णवाद करनेवाला होने से दर्शनमोह का बंध होता है।

अट्टाईस मूलगुण आदि सभी गुणों की पूर्णता होने पर भी जो पुरुष यह छल करता है एवं सन्देह करता है कि अमुक मुनिराज को सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना उन्हें कैसे नमस्कार किया जाये तो वह मुनित्व से ही इन्कार करनेवाला है; क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि अपने स्थूलज्ञान से किसी के सम्यग्दर्शन का पता लगाया जा सके।

अतः सम्यग्ज्ञान जैसे अमूर्त अतीन्द्रिय तत्त्व का पता किये बिना मुनिराज को नमस्कार नहीं किया जायेगा तो फिर लोक के सभी साधु वन्दनीय नहीं रह सकेंगे। इसीलिए मुनिराज में जहाँ जिनोपदिष्ट व्यवहारधर्म की परिपूर्णता पायी जाये तो वे अवश्य ही वन्दन के योग्य होते हैं; क्योंकि व्यवहारी की गति व्यवहार तक ही होती है। कोई कारण न दिखायी देने पर भी किसी के चारित्र के संबंध में सन्देह करना चारित्र का बहुत बड़ा अपमान है।

किसी भी लौकिक अथवा लोकोत्तर प्रयोजन के अनुरोध से मुनि का नग्नता से भिन्न कोई भी वेष हमारे सम्मान का विषय नहीं हो सकता।

यह भी कहा जाता है कि “व्यवहार में लौकिक प्रयोजन के अनुरोध से जैसे हम लौकिकजनों को अभिवादन करते हैं, उसीतरह साधुओं को भी कर लिया जाये तो क्या आपत्ति है ?”

लोक-व्यवहार में लौकिक प्रयोजन से जो भी अभिवादन आदि का शिष्टाचार होता है, उसमें शुद्धरूप से लौकिक प्रयोजन ही होता है। वे किसी धर्म के माननेवाले होने पर भी वे लौकिक पुरुष ही होते हैं, अतएव लौकिकजनों के साथ यथायोग्य व्यवहार निभाने में सम्यक्त्व दूषित नहीं होता।

मुनि आत्मा के अभ्यास में परायण होते हैं। अतः वे बारम्बार स्वरूप गुप्त होते रहते हैं। सविकल्पदशा में भी मुनिधर्म की मर्यादा लांघकर बाहर नहीं जाते।

‘भरतजी घर में ही वैरागी’ के अनुसार समकित्ती गृहस्थाश्रम में भी वैरागी होकर रह सकता है; परन्तु मुनिराज तो वैराग्य के शिखर पुरुष हैं, आतस्मा से उनका वैराग्य तो निराला ही होता है।

मुनिराज को आत्मा से बाहर आना बिल्कुल ही नहीं सुहाता। छठवें गुणस्थान में बाहर आना पड़ता है; परन्तु उन्हें बाहर आना बोझरूप लगता है; क्योंकि उन्हें शाश्वत आत्मा की धुन रहती है।

वस्तुतः द्रव्यलिंगी साधु के चार प्रकार हैं –

१. मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी – जिनके भेदज्ञान और तत्त्वज्ञान के अभाव हो, अभिप्राय में परद्रव्य में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की भूल हो, सच्चे वीतरागी सर्वज्ञ देव-गुरु-शास्त्र के विषय में तथा सात तत्त्वों में अन्यथा श्रद्धान होने रूप मिथ्यात्व हो, किन्तु बाह्य में मन्दकषाय के बल से मुनिपने का आचरण निर्दोष हो, शुक्ललेश्या हो तो वे मरकर नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं।

२. अविरत सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिंगी – पहले अज्ञानदशा में मन्दकषाय के जोर से मुनिपना ले लिया हो और फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो; परन्तु अन्तर से तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप संयम के योग्य पुरुषार्थ न चलता हो, उन्हें भी द्रव्यलिंगी कहा जाता है; ऐसे सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिंगी को केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी चार, ऐसी सात प्रकृतियों का क्षय हो सकता है।

३. देशविरत सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिंगी – ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अन्तर में दो कषाय-चौकड़ी के अभावस्वरूप शुद्धपरिणति हुई है; परन्तु बाह्य में मुनिपने की क्रिया निर्दोष पालन करने पर भी

अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी के उदय में अन्तर में मुनिदशा के योग्य शुद्धि का पुरुषार्थ नहीं चलता, उन्हें भी द्रव्यलिंगी मुनि कहा जाता है, उन्हें भी सात प्रकृतियों का क्षय हो सकता है।

पूज्यता का आधार तो बाहर में २८ मूलगुणों का निर्दोष पालन करना ही मुख्य है। अतः जो भी २८ मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हैं वे सब पूज्य हैं। अन्दर के परिणामों की पहचान तो सर्वज्ञ के सिवाय किसी को होती नहीं है, अतः 'द्रव्यलिंग' शब्द को निन्दा के अर्थ में नहीं समझना चाहिए।

अभी समय हो गया, अतः आज इतना ही, शेष अगले प्रवचन में।

ॐ नमः।

प्रवचन से प्रभावित होकर आचार्यश्री की जय बोलते हुए एक श्रोता ने भावुकतावश अवरुद्ध कंठ से कहा - “अहा! धन्य है, धन्य है; आचार्यश्री को धन्य है। आपने तो हमारी आँखें ही खोल दीं। हम तो अब तक प्राप्त पर्याय को सुखी बनाने और लौकिक समृद्धि में ही अपने जीवन की सफलता समझ रहे थे। इसकारण ज्योतिष और मंत्र-तंत्र बताने वालों के चक्कर में ही अब तक पड़े रहे।”

आचार्यश्री के प्रवचनों से यह जाना कि “ये सब तो पुण्य-पाप का खेल है। आत्मा का हित तो आत्मा के जानने-पहचानने में है। मैं इस जन्म के पहले भी था और मृत्यु के बाद भी रहूँगा। अतः आज मैंने जाना कि मुझे अपने उज्ज्वल भविष्य के बारे में सोचना है।” धन्य है, आचार्यश्री! धन्य है मुनिसंघ!

अन्त में जिनवाणी और मुनिसंघ के जयकारे के साथ सभा विसर्जित हुई।



वर्षाऋतु का समय, उसमें भी श्रावण मास, इस कारण पानी का बरसना कोई नई बात नहीं है, परन्तु जब वर्षा थमती ही नहीं, लगातार दो-दो दिन तक सूरज का मुख दिखाई नहीं देता तब लोग घर से बाहर निकलने को तरस जाते हैं। जगह-जगह गड्ढे हो जाते हैं, उनमें पानी भर जाता है। जहाँ देखो वहाँ गलियारों में कीचड़ ही कीचड़ हो जाता है। चारों ओर हरियाली भी हो जाती है।

इन परिस्थितियों में सुविधा भोगी गृहस्थ कितनी भी अनुकूलतायें जुटा लें, फिर भी परेशान हो जाते हैं तो साधुओं की तो बात ही क्या; मुनि संघ को प्रतिष्ठापन समितिपूर्वक मल-मूत्र क्षेपण करने हेतु दूर-दूर तक कोई निर्जन्तुक जगह दिखाई नहीं देती तो श्रद्धावान श्रावक साधुओं की असुविधा देखकर चिन्तित हो जाते हैं।

चातुर्मास समिति के बुजुर्ग श्रावकों को यह ज्ञात तो था कि अहिंसा महाव्रत और प्रतिष्ठापना समिति के नियमानुसार निर्जन्तुक स्थान में ही मलमूत्र क्षेपण करने का विधान है; परन्तु जब दूर-दूर तक ऐसा स्थान दिखाई नहीं देता तो ऐसी स्थिति में मुनिराज जायें तो जाँय कहाँ?

उनकी इस चिन्ता को देख मुनिचर्या से सर्वथा अनभिज्ञ मुनि संघ की चातुर्मास समिति का एक सदस्य बोला - “इसमें ऐसी क्या समस्या है? आप लोग व्यर्थ ही चिन्ता कर रहे हो। जब आज इतने अच्छे-अच्छे शौचालय के साधन उपलब्ध हैं तो संघ को बाहर जाने की क्या जरूरत है?”

समस्या तो सबके सामने थी ही, अतः यह जानते हुए भी कि संभवतः आचार्य श्री इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेंगे फिर भी यह सोचने लगे कि यहीं शौचालयों की कोई अस्थाई व्यवस्था की जाय तो क्या हानि है?



जब यह प्रस्ताव लेकर समिति के व्यक्ति आचार्यश्री से निवेदन करने गये तो आचार्यश्री ने आँख पलटते हुए कहा - “कैसी बातें करते हो? ये सब समस्यायें थोड़े-बहुत रूप में प्रतिवर्ष आतीं ही हैं। हम और हमारा संघ इन सब परिस्थितियों का सहजता से सामना करने में समर्थ है।

आगम में ऐसा विधान है कि ‘यदि पानी का प्रवाह घुटनों तक हो तो उसमें चलकर जा सकते हैं। तथा कीचड़ आदि में से भी परिमर्दित मार्ग से जा सकते हैं। परिमर्दित अर्थात् जिस मार्ग से मानवों और पशुओं का आवागमन प्रारंभ हो गया है।’

आचार्यश्री ने आगे कहा - आगम में इन परिस्थितियों के विषय में ऐसा भी लिखा मिलता है कि - एक होता है राजमार्ग और दूसरा होता है अपवाद मार्ग। अपवाद मार्ग को संकटकाल में अपनाया जाता है। किन्तु संकटकाल में भी अहिंसक रीति से ही यदि कोई विकल्प संभव हो तो ही अस्थाई उपाय किया जाना चाहिए। इस बहाने किसी भी प्रकार से शिथिलता नहीं होना चाहिए।”

इतना समाधान करते हुए आचार्यश्री ने कहा - “चलो प्रवचन के लिए श्रोता प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम भी पहुँचो, हम भी आते हैं।”

आचार्यश्री प्रवचन स्थल पर पहुँचे, प्रवचन प्रारंभ हुआ। आचार्यश्री ने कहा - “आज पंचाचार विषय की चर्चा करना है। मुनि साधना के सिद्धान्तों का व्यावहारिक, प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहलाता है। आचार के निम्नांकित पाँच भेद हैं - (१) दर्शनाचार, (२) ज्ञानाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार।<sup>१</sup> इसकारण इन्हें पंचाचार कहते हैं।

**१. दर्शनाचार :-** पंचपरमेष्ठी की आराधना में एवं पंचपरमेष्ठी के पदों की प्राप्ति में पंचाचारों के पालन करने का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पंचाचारों में दर्शनाचार ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दर्शनाचार के बिना कोई भी आचार सम्यक्पने को प्राप्त नहीं हो सकता है।

आचार्य सकलकीर्ति ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति मूलाचार प्रदीप में दर्शनाचार का निरूपण २४२ गाथाओं में किया है, दर्शनाचार अर्थात् सम्यग्दृष्टि का बाह्य आचार, इस संदर्भ में सम्यग्दर्शन की जो महिमा आगम में गाई गई है उसका संक्षिप्त सार यहाँ प्रस्तुत है।

“यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणों का निधान है, मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है, धर्म का मूल है और सुख का समुद्र है; इसलिए पुण्यवान पुरुषों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिए।<sup>२</sup>”

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का निम्न कथन भी अनुशीलन करने योग्य है -

“दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।

तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

जिनवरदेव ने अपने शिष्यों से कहा है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है; अतः हे भव्यो! तुम कान खोलकर सुन लो कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वन्दन करने योग्य नहीं है।<sup>३</sup>”

“सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइ सत्थाइं।

आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥

जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट है, वह भले ही अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानता हो, तथापि वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं।<sup>४</sup>”

“सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उगं तवं चरंताणाम्।

ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥

जो मुनि सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे हजार-करोड़ वर्षों तक भलीभाँति उग्र तप करें; तब भी उन्हें बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है।<sup>५</sup>”

“सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवइहमाण जे सव्वे।

कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥

जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य से वर्द्धमान हैं तथा इस पंचमकाल के मलिन पाप (गृहीत मिथ्यात्व) से रहित हैं, वे सभी अल्पकाल में केवलज्ञानी होते हैं।<sup>६</sup>”

आचार्य समन्तभद्र श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं -

“न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।  
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

तीन काल और तीन लोक में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई भव्य जीवों का कल्याण करनेवाला नहीं है तथा तीन काल और तीन लोकों में मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याण करनेवाला नहीं है।”

और भी सुनो - आचार्य सकलकीर्ति कहते हैं कि - “मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुए ज्ञान और चारित्र कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों, फिर भी उनसे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती; इसलिए कहना चाहिए कि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान अज्ञान है, चारित्र मिथ्याचारित्र है और समस्त तप कुतप है। जिस प्रकार बिना बीज के किसी भी खेत में कभी फल उत्पन्न नहीं हो सकते, उसी प्रकार बिना सम्यग्दर्शन के चारित्र नहीं होता और बिना रत्नत्रय के कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।<sup>७</sup>”

“जिन जीवों ने मुक्ति प्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया; वे ही धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर हैं, पण्डित हैं। तात्पर्य यह है कि सभी गुण सम्यग्दर्शन से ही शोभा पाते हैं। अतः हमें निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए। स्वप्न में भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न हो।<sup>८</sup>”

“अधिक कहने से क्या लाभ है, इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो आज तक कोई सिद्ध हुआ है और न भविष्य में होगा।<sup>९</sup>”

ज्ञानी को सम्यग्दर्शनसहित नरक में रहना पड़े तो भी वह उसे अच्छा मानता है, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना स्वर्ग निवास को भी भला नहीं मानता।

इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव नरक में से निकलकर, सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से समस्त पूर्वोपार्जित अशुभकर्मों का नाश करके, तीर्थंकर तक हो सकता है, परन्तु बिना सम्यग्दर्शन, स्वर्ग के देव आर्त्तध्यान करते हैं और मिथ्यात्व के कारण स्वर्ग से आकर स्थावरों में उत्पन्न हो जाते हैं।

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, वे अव्रती होने पर भी नरकगति, तिर्यचगति, निन्दित कुल, स्त्री पर्याय, नपुंसक पर्याय आदि में उत्पन्न नहीं होते। वे धर्मात्मा विकल या अंग-भंग शरीर धारण नहीं करते। उनका कुजन्म नहीं होता, वे अल्पायु और दरिद्री नहीं होते, धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थ से रहित नहीं होते। शुभभावों से रहित नहीं होते। वे रोगी व पापी भी नहीं होते और मूर्ख नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि पुरुष ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर देवों में पैदा नहीं होते। प्रकीर्णक, आभियोग्य देवों में उत्पन्न नहीं होते। जहाँ पर निन्दनीय भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होती है, वहाँ कहीं भी उत्पन्न नहीं होते। कुभोग भूमि में भी उत्पन्न नहीं होते।<sup>१०</sup>

पण्डित दौलतरामजी ने कहा है -

“प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी ।  
थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक् धारी ॥  
तीन लोक तिहुं काल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी ।  
सकल धर्म को मूल यही, इस विन करनी दुखकारी ॥”

सम्यग्दर्शन की महिमा से अभिभूत हुए श्रोताओं में सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जानने की जिज्ञासा जागृत हो गई। एतदर्थ उन्होंने आचार्यश्री से सम्यग्दर्शन समझाने का निवेदन किया। हे स्वामिन! हमने पहले भी सुना था कि - सम्यग्दर्शन के बिना धर्म की शुरुआत ही नहीं होती, परन्तु तब हमने ध्यान नहीं दिया; अब आप कृपया इस विषय को विस्तार से बतायें।

रविवार छुट्टी का दिन था, बाजार भी बंद रहने के कारण अनेक पढ़े-लिखे प्रोफेसर, इंजीनियर, डाक्टर एवं प्रशासन सेवा में रहने वाले प्रतिभाशाली महानुभाव, प्रौढ़, छात्र-छात्रायें आदि नये श्रोता भी सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनने के लिए समय से पूर्व ही आ गये।

अनेक जिज्ञासु श्रोता तो ऐसे थे जो जैन कुल में पैदा होने के कारण नाम मात्र के जैन थे। वे कुलक्रम से प्राप्त जैनधर्म के संस्कारोंवश प्रति रविवार को ही देवदर्शन करने आया करते थे। वे भी माता-पिता की प्रेरणा से आचार्यश्री के प्रवचन में बैठ गये थे।

आचार्यश्री अनेक नये चेहरों को देखकर कुछ असमंजस में पड़ गये। उन्हें विकल्प आया कि “जब साठ हजार वर्ष तक छह खण्ड को जीतने के लिए निकले अभागे भरत चक्रवर्ती को तत्त्वज्ञान देने के लिए तीर्थकर ऋषभदेव की दिव्यध्वनि अर्द्धरात्रि में खिर सकती है तो इन सौभाग्यशाली अभागे श्रोताओं को समझाना तो है ही, पर क्या/कैसे समझाया जाय ताकि इनमें चार माह तक नियमित प्रवचन सुनने की जिज्ञासा जागृत हो जाय। परन्तु, वे घोषित विषय को बदलना भी नहीं चाहते थे। अतः आचार्य श्री ने नये श्रोताओं को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम जीवों के अनादि-अनन्त अस्तित्व होने का तथा पुण्य-पाप की सत्ता का ज्ञान कराना बेहतर समझा। अतः उन्होंने श्रोताओं से कहा - “मैं एक प्रश्न पूछता हूँ सब ध्यान से सुनें और जिससे पूछा जाय वही उत्तर दें।

एक बालक राजमहल में या किसी अरब पति सेठ के यहाँ पैदा होता है, जन्म से ही उसके मुँह में सोने की चम्मच होती है और चाँदी के पालने में झूलता है। नौकर-चाकर सब सेवा में खड़े रहते हैं, वहीं दूसरा बालक फुटपाथ पर पैदा होता है और लड़खड़ाते पैरों से चलने लायक होते ही उसके हाथ में भीख का कटोरा होता है, अभाव में जीवनभर जीता है

और अनेक बीमारियों से घिरा तड़फ-तड़फ कर फुटपाथ पर ही दम तोड़ देता है। इन दोनों में यह अन्तर क्यों? सोचा कभी?

दो सगे भाई एक ही माँ के उदर में पैदा होकर एक कलक्टर बन जाता और दूसरा चपरासी बन कर क्यों रह जाता है? सोचा कभी?

अधिकांश श्रोता सोच में पड़ गये, पर एक बालक ने हाथ उठाया!

आचार्यश्री ने उसे खड़ा किया और उत्तर देने को कहा। बालक ने कहा - “जिस बालक ने अपने पिछले जन्म में जैसा पुण्य-पाप कमाया, उसके अनुसार ही उसे फल मिला।”

उत्तर सुन कर आचार्यश्री प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा - “हम सबकी परिस्थितियाँ भी एक जैसी कहाँ हैं? यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सब किसी न किसी मनःस्थिति और आर्थिक परिस्थिति से जूझ रहे हैं। अतः अब जो इन दुःखों से छुटकारा पाने की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है, वह विषय चलेगा, उसे ध्यान से सुनें और तुम्हें आनंद आये तो अगले प्रवचनों में अपने मित्रों और परिवार को भी साथ अवश्य लायें।

हाँ, तो सुनो! जिनागम में सम्यग्दर्शन के चार लक्षण कहे हैं -

१. तत्त्वार्थ श्रद्धान अर्थात् साततत्त्वों के यथार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन।
२. पर और पर्याय से प्रथक् आत्म-श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन।
३. शुद्धात्मानुभूति अर्थात् अभेद, अखण्ड एक चिन्मात्र ज्योति स्वरूप कारण परमात्मा की अनुभूतिरूप सम्यग्दर्शन।
४. तीन मूढ़ता रहित सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का यथार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन।<sup>१२</sup>

यद्यपि ये जो चार लक्षण कहे, उनमें सच्ची दृष्टि से एक लक्षण भी ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण हो जाता है, तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचार कर अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं।

१. ‘तत्त्वार्थश्रद्धान’<sup>१३</sup> लक्षण का प्रयोजन तो यह है कि - यदि इन सातों तत्त्वों को पहचान लें तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का व अपने हित-

अहित का श्रद्धान हो। जैसे कि - जीवतत्त्व को ध्येय एवं अजीव को ज्ञेय जाने, आस्रव-बंध को हेय माने, संवर-निर्जरा को एकदेश उपादेय और मोक्ष को पूर्ण उपादेय मानकर श्रद्धा करें।

२. 'आपापर' के श्रद्धान का प्रयोजन यह है कि - मुख्य रूप से मैं जीव हूँ, शरीर अजीव है दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों के बीच अत्यन्ताभाव रूप वज्र की दीवाल है। अतः शरीर से जीव को सुख-दुःख नहीं होता - ऐसा जानकर अत्यन्त निकटवर्ती शरीर से जब राग कम होगा तो शरीर से संबंधित पर संयोगों से मोह कम हो ही जायेगा।

३. जहाँ 'आत्म श्रद्धान' लक्षण कहा - वहाँ 'पर' से भिन्न आपको (स्वयं को) ही आप रूप जानने की बात है। इससे सम्पूर्ण पर और पर्याय के विकल्प टूट जाते हैं। शुद्ध आत्मानुभूति हो जाती है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप ही कार्यकारी है।

४. तथा जहाँ 'सच्चे देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान' सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य साधन निमित्तों की प्रधानता से कथन किया है; क्योंकि अरहंत देवादिक का श्रद्धान ही सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है। अतः बाह्य कारण की अपेक्षा से कल्पित कुदेवादिक का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यक्दर्शन का लक्षण कहा है।

मिथ्यात्व के उपशमादि होने पर जहाँ विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है, वहाँ चारों ही लक्षण युगपत् पाये जाते हैं? यद्यपि ज्ञानोपयोग में नाना प्रकार के विचार होते हैं, इसके कथन में सापेक्षपना पाया जाता है वस्तु का श्रद्धान तो निरपेक्ष ही होता है, उसका कथन सापेक्ष होता है।<sup>१४</sup>

उक्त चारों लक्षणों में तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण मुख्य है; क्योंकि इस लक्षण में चारों ही लक्षण समाहित हैं; अन्य लक्षणों में चारों का समावेश नहीं होता। जैसे कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान लक्षण में इतना ही

भासित होता है कि अरहंतादि को ही सच्चा देव मानना, रागी द्वेषी-देवों को सच्चा देव नहीं मानना।

इसीप्रकार आपापर के श्रद्धान में मात्र यही भासित होता है कि आपापर को ही जानना, यही सम्यक् है। यहाँ शेष को गौण किया गया है।

आत्मश्रद्धान लक्षण में ऐसा मान लें कि आत्मा ही का विचार कार्यकारी है, इसी से सम्यक्दर्शन होता है, वहाँ भी जीव-अजीव के विशेष भासित न हों तो भी मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि में बाधा नहीं है। अतः तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्दर्शन लक्षण को मुख्य रखा है।

तत्त्वार्थ का निर्णय करने के लिए स्याद्वाद शैली में लिखे गये अनेकान्त के निरूपक शास्त्रों का स्वाध्याय करना होगा। वे शास्त्र सर्वज्ञ (अरहंत) देव की वाणी को सुनकर गणधर देवों द्वारा निरूपित हैं, उन्हें समझने के लिए निर्ग्रन्थ ज्ञानी गुरु ही परम शरण हैं अतः देव एवं गुरु की शरण में जाकर सर्वप्रथम तत्त्वार्थ को समझें, एतदर्थ सर्वज्ञ का स्वरूप समझना भी अनिवार्य है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार गाथा ८० में लिखा है -

“द्रव्य गुण पर्याय से, जो जानते अरहंत को।

वे जानते निज आत्मा, दृग मोह उनका नाश हो ॥

जो अरहंत को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से जानते हैं, वे वास्तव में आत्मा को भी जानते हैं; क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा ज्ञान होने पर उनका मोह अवश्य क्षय हो जाता है। अतः आत्महित के लिए सर्वप्रथम सर्वज्ञ (केवलज्ञानी) के स्वरूप का निर्णय करें।”

हम जिनका उपदेश सुनते हैं और जिनके बताये मार्ग पर चलना चाहते हैं, जिनके दर्शन, पूजन कर हम कृतार्थ होना मानते हैं, ऐसे अरहंत की पहचान यदि हमें नहीं है तो हम बिना जाने/पहचाने किसके दर्शन करते हैं? क्या यह विचारणीय बात नहीं है?

देव शास्त्र-गुरु को जानकर अपने स्वरूप को जानने/पहचानने को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। अतः सम्यग्दर्शन के लिए सर्वज्ञ को जानना अनिवार्य है और यह बिल्कुल कठिन नहीं है। अत्यन्त सरल है; क्योंकि अभी सर्वप्रकार के साधन सुलभ हो गये हैं। इनका बार-बार मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि इस भव में आत्मानुभव नहीं हुआ तो फिर कभी होने की संभावना नहीं है। अतः सब कार्यों को गौण करके सर्वप्रथम सर्वज्ञ को जानकर उनकी श्रद्धा करें। भेदज्ञान अर्थात् निजपर की पहचान करें, क्योंकि पर ही मोक्ष का साधन है। समयसार कलश में कहा भी है -

**भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किलकेचन ।**

**अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥<sup>१५</sup>**

तात्पर्य यह है कि जबतक भेदविज्ञान नहीं होता तब तक जीव कर्मों से बंधता ही रहता है।

‘मूलतः संसार में भटकने की चार भूलें हैं - पर में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व। जब तक ये भूलें नहीं निकलतीं तबतक कठोर से कठोर बाह्य धर्म की साधना करो; परन्तु वह साधना कर्म बंधन से मुक्त नहीं करा सकती। यह जानकर जैसे बने तैसे सर्वप्रथम ये भूलें मिटानी होंगी। एकत्व एवं ममत्व मिटाने के लिए वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त समझना होगा। भोक्तृत्व भाव का अभाव करने हेतु यह जानना होगा कि पर में सुख है ही नहीं तो मिलेगा कहाँ से?

बस, दर्शनाचार के संदर्भ में जो सम्यग्दर्शन की चर्चा की। इतना भी जान लिया तो सम्पूर्ण जिनवाणी का रहस्य जानने में आ जायेगा।

पंचाचार के विषय को आगे बढ़ाते हुए संक्षेप में ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार की चर्चा भी आचार्य श्री ने की। जो इस प्रकार है।

**(२) ज्ञानाचार** - शुद्धात्मा आधि, व्याधि एवं उपाधिरहित है। अपनी ज्ञान पर्याय द्वारा स्व को ज्ञेय बनाना तथा भेदज्ञान द्वारा राग-द्वेष से

आत्मा को भिन्न जानना निश्चयसम्यग्ज्ञान है एवं व्यवहार से आगमज्ञान सम्यग्ज्ञान है। आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान निश्चय है। अपने निज ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करते ही शरीर, कर्म, राग इत्यादि कोई भी मुझमें नहीं है - ऐसा नास्तिरूप परिणमन सहज ही हो जाता है। मैं अपने से हूँ - ऐसा अभेदरूप परिणमन होते ही पर से नास्तिरूप परिणमन होता है। सम्यक्दृष्टि को शास्त्रों का ज्ञान भी शुद्धात्मा के लक्ष्यपूर्वक ही होता है। वास्तव में तो अपने ज्ञायकस्वभाव का स्वसंवेदनरूप परिणमन निश्चय ज्ञानाचार है।

**(३) चारित्राचार** :- आत्म द्रव्य के आश्रय से ज्ञायकस्वरूपी आत्मा में ही स्थिर होना निश्चय चारित्र है। आत्मा के आश्रय से जो आत्मा में स्थिरता पूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द के आस्वाद के समय स्वरूप में स्थिरता का होना ही चारित्राचार है।

**(४) तपाचार** :- परद्रव्यों की इच्छा रोकना व्यवहार से तपाचार है। स्वाभाविक आनन्द के झरने में मस्त आचार्यों को परद्रव्य की इच्छा होती ही नहीं है - इसी का नाम इच्छा का रोकना है। पहले इच्छा के समय पर परद्रव्य निमित्त थे, अब स्वभाव में लीन होने से इच्छा टूटते ही परद्रव्य छूट जाते हैं। आहार आदि की ओर वृत्ति ही नहीं गई; अतः अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग, विविक्त शैय्यासन एवं कायक्लेश ये छह बाह्य तप सहज ही पल गये। इन्हें बहिरंग तप कहा है, जिसकी ओर लक्ष था, जब उसका लक्ष छूट गया, तब उसकी अपेक्षा से तथा ये बाहर से दिखाई देते हैं, अतः इन्हें बहिरंग सहकारी कारण कहा है।

अनादि से इच्छा बलवान थी, अब उसकी शक्ति समाप्त हो गई और शुद्ध अनाकुल आत्मा की विजय हुई और इच्छारहित साम्राज्य हो गया।

आत्मा इच्छारहित तप से शोभायमान हो गया। यह इच्छारहित तप ही निश्चय तप है और इसमें विशेषरूप से प्रतपन निश्चय तपाचार है।

इसके भी छह भेद हैं - १. प्रायश्चित २. विनय, ३. वैयाव्रत, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग एवं ६. ध्यान।

**(५) वीर्याचार :-** दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार और तपाचार को टिकाये रखने के लिए अन्तरंग में अपने वीर्य/बल को स्फुरित करना निश्चय वीर्याचार है।

श्री प्रवचनसार के चरणानुयोग के अधिकार में कहा है कि - “जबतक व्यवहार के प्रसाद से निश्चय को प्राप्त नहीं करूँ तब तक व्यवहार का पालन करूँगा।” वहाँ ज्ञानाचार दर्शनाचार को लक्ष्य करके कहते हैं कि ‘मैं जानता हूँ, कि हे ज्ञानाचार! हे तपाचार! तू मेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकूँ, तब तक तुम्हारा आश्रय है तुम्हारे निमित्त से ही मैं निश्चय धर्म प्राप्त करूँगा।

प्रवचनसार के इस व्यवहार कथन का आशय यह है कि - निमित्त है, व्यवहार है; परन्तु जब यह शुभराग भी स्वभाव की रक्षा नहीं करता, तो फिर शारीरिक संहनन, गुरु अथवा अन्य बाह्य वस्तु रूप निमित्त स्वभाव की रक्षा कैसे करें? इसप्रकार निश्चय व्यवहार पंचाचार का स्वरूप है। बस, अभी इतना ही। ॐ नमः।

- १. मूलाचार ५/२
- २. मूलाचार प्रदीप, गाथा १६१९-१६२०
- ३. दर्शनपाहुड़, गाथा-२
- ४. दर्शनपाहुड़, गाथा-४
- ५. दर्शनपाहुड़, गाथा-५)
- ६. दर्शनपाहुड़, गाथा-६
- ७. मूलाचार प्रदीप, गाथा १५९५-१७०८
- ८. अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा ८१
- ९. अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा ८८
- १०. मूलाचार प्रदीप, १६०१-१६१३
- ११. छहढाला, ३/१६
- १२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ४
- १३. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-१, सूत्र २
- १४. मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय-९, पृष्ठ ३२८, ३२९ को भी देखें।
- १५. आचार्य अमृतचन्द्र, १९३१

यद्यपि संघस्थ आचार्य एवं उपाध्याय सामान्य जनता की सुविधा के अनुसार प्रवचन देने के लिए प्रतिबंधित नहीं होते, तथापि भव्य जीवों के भाग्योदय से प्रायः प्रतिदिन प्रातः ९ से १० बजे तक १ घंटे के प्रवचनों का लाभ समाज को मिल रहा था।

करुणासागर आचार्यश्री ने समाज की रुचि को देखकर प्रवचन शृंखला बराबर चालू रखी। मुनियों के मूलगुणों के विवेचन के माध्यम से श्रावकों को तो उनके आवश्यक कर्तव्यों का ज्ञान हो ही रहा था, संघस्थ साधु भी ऐसा महसूस कर रहे थे कि यदि समय-समय मुनिचर्या पर ऐसे प्रवचन होते रहें तो साधु समाज भी अपने आवश्यक कर्तव्यों में शिथिल नहीं हो पायेगा, अन्यथा शिथिलता आ जाना असंभव नहीं है।

संघस्थ साधुओं के प्रवचनों के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया देखकर भी आचार्यश्री ने प्रवचन शृंखला आगे बढ़ाते हुए आज से मुनिराज के उत्तरगुणों की विस्तार से चर्चा करने का मन बना लिया।

आचार्यश्री ने तत्त्वोपदेश प्रारंभ करते हुए कहा - मुनिराज के उत्तरगुणों में धर्म के दसलक्षण, बारह भावनार्ये, बाईस परीषह, संयम, सामायिक एवं स्वाध्याय आदि अन्तरंग तप तथा अनशन, उनोदर आदि बाह्य तप - ये साधु परमेष्ठी के प्रमुख उत्तरगुण हैं।” जिनकी आराधना/साधना साधु सदा किया करते हैं।

इनके माध्यम से ही मुनिराज आध्यात्मिक विकास की शक्ति प्राप्त करते हैं। तथा शुद्धि की वृद्धि करते हुए सम्पूर्ण विकारों का क्षय करके पूर्ण अविकारी मुक्तदशा को प्राप्त करते हैं।

यद्यपि मुनि-जीवन में आत्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से उत्तरगुणों का बहुत भारी महत्त्व है; परन्तु मूलगुणों की उपेक्षा करके मात्र उत्तरगुणों की

रक्षा करना योग्य नहीं है; क्योंकि उत्तरगुणों में दृढ़ता इन्हीं मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है। जिसप्रकार मूलरहित वृक्ष किसी प्रकार फल उत्पन्न नहीं कर सकता; उसीप्रकार मूलगुण से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फलदायी नहीं हो सकते।

जो उत्तरगुणों को प्राप्त करने के लिए मूलगुणों को गौण कर देते हैं, वे अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए मानो अपना शिरच्छेद ही करा लेते हैं।<sup>२</sup> जो मूलगुणों को छोड़कर या उपेक्षा करके अपने मान-सम्मान या प्रशंसा पाने के लिए उत्तर गुणों का कठोरता से पालन करते हैं, वे ठीक नहीं हैं।

जिस तरह मूलगुणों की संख्या निश्चित है, उसतरह उत्तरगुणों की कोई सुनिश्चित संख्या नहीं है। मूलगुणों के अतिरिक्त सभी व्रत-शीलादि उत्तरगुण में समाहित हैं। वैसे आगम के उत्तरगुणों की उत्कृष्ट संख्या चौरासी लाख तक मानी गयी है। परन्तु चौरासी लाख तो क्या चौरासी नाम याद रखना असंभव लगता है, फिर भी चिंता की कोई बात नहीं है; क्योंकि उन सब नामों को याद रखना आवश्यक भी नहीं है। मुनि की भूमिका के योग्य कषायों का अभाव होने से वे सभी उत्तरगुण सहज प्रगट हो जाते हैं। वैसे तो उत्तम क्षमा, बारह भावनाओं में वर्णित वैराग्य व ज्ञान, बाईस परीषहजय की योग्यता, बारह तप आदि के भाव भी प्रगट हो जाते हैं; परन्तु स्वरूप में विशेष सावधानी के लिए तथा परिणामों में विशेष विशुद्धि के लिए इनकी आराधना एवं अनुप्रेक्षा करना अपेक्षित है।

ये धर्म के दसलक्षण चारित्रगुण की एक समय की निर्मल पर्याय के ही दस नाम हैं, जो चारित्रगुण की क्रोधादि दस विकारी पर्यायों का अभाव करके प्रगट हुए हैं। आत्मा में अनादि काल से चारित्रगुण की विकृतियाँ और कुशील (अब्रह्म) आदि होते रहे हैं, तत्त्वज्ञान के अभ्यास से इनके अभाव होने पर साधुओं के चारित्रगुण में जो निर्मलता प्रगट हो जाती है उसे ही उत्तम क्षमादि दसधर्म कहते हैं।

जैसे कृष्ण एक है परन्तु निमित्त अपेक्षाओं से उनके नाम अनेक हैं, गोपाल, गोपीबल्लभ, राधाबल्लभ, देवकीनन्दन, घनश्याम, कंसारि, मुरारी आदि; उसीप्रकार चारित्रगुण की एक निर्मलपर्याय है, किन्तु क्रोध, मान आदि दस विकृतियों के अभाव के कारण उस एक ही निर्मल पर्याय के ये दस नाम हैं।

यद्यपि ये दस धर्म मुख्यतः मुनियों के उत्तर गुण हैं, तथापि गृहस्थ भी इनकी आराधना करते हैं। इतना ही नहीं, ये दसधर्म सार्वजनिक हैं, सर्वकालिक एवं सार्वदेशिक भी हैं; क्योंकि क्रोधादि विकारों को सभी जन बुरा मानते हैं, सभी कालों में अर्थात् भूत में, भविष्य में और वर्तमान में इन्हें अहित कर, दुःखद माना जाता है तथा सभी देशों में ये विकार अच्छे नहीं माने जाते। अतः मानव मात्र किसी न किसी रूप में इन दस धर्मों की आराधना एवं अंगीकार करने में तत्पर रहते हैं।

वैसे तो इनकी आराधना/साधना करने की कोई तिथि विशेष नहीं होती, ये तो सदैव जीवन में अपनाने के सिद्धान्त हैं, फिर भी सम्पूर्ण जैन समाज इन्हें मुख्यतः भादों के महीने में एक महान उत्सव के रूप में दस दिवसीय आयोजन करती है। ये तो प्रसंशनीय है, परन्तु अफसोस यह है कि यह पर्व परम्परागत रूढ़ि बनकर रह गया है। इस कारण इसकी आराधना में बहुत भूलें होने लगी हैं। उस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं -

“बन्धादिक के भय से तथा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करता, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे - कोई राजादिक के भय से अथवा महन्तपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नहीं है। वास्तव में जब पदार्थ-अनिष्ट-इष्ट भासित होते हैं तब क्रोधादिक उत्पन्न होते हैं; तथा जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हों, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते; तब सच्चा क्षमा धर्म होता है।

ये धर्म अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जैसे क्रोधादिक की निवृत्ति होय,

तैसे सम्भव होय हैं अर मुनिनि के प्रधानपने होय हैं।”

“यद्यपि जिनागम में दसलक्षण धर्म का वर्णन मुख्य रूप से मुनिराजों की मुख्यता से ही आया है, तथापि देशविरत श्रावक एवं अविरत सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी उनकी भूमिकानुसार ये होते हैं। उनके उत्तमक्षमा आदि में कषाय के घटने के अनुसार मात्रा में भेद होता है, जाति सबकी एक जैसी होती है।<sup>३</sup>”

### उत्तमक्षमा आदि दस धर्म

“उत्तम क्षमा है आदि में जिसके तथा जो दस भेदों से युक्त हैं, उस धर्म का पालन श्रावक भी अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं।<sup>४</sup>”

अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण क्रोध के अभाव में उत्तम क्षमा वृद्धिगत होती जाती है तथा संज्वलन कषाय के अभाव में आत्मा में ही अनन्तकाल तक समा जानेवाले अरहन्त परमात्मा को उत्तम क्षमा की पूर्णता होती है। उत्तमक्षमा आदि दसों धर्मों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है -

**१. उत्तमक्षमा :-** मुनिराज को अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान - इन तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप प्रगत वीतराग परिणति निश्चय उत्तमक्षमा है और बाह्य में क्रोध के कारणभूत निन्दा, गाली आदि के प्रसंगों में भी क्रोधित न होना व्यवहार उत्तमक्षमा है।

दुष्टों द्वारा बिना कारण वध करने पर भी ‘मेरे अमूर्त परमब्रह्मरूप आत्मा की हानि नहीं होती’ - ऐसा समझकर परमसमरसी भाव में स्थित रहना निश्चय उत्तमक्षमा धर्म है। तथा क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसके (व्यवहार) उत्तम क्षमाधर्म होता है।<sup>५</sup>

यद्यपि द्रव्यलिंगी मंद कषायी मुनि बाह्य परिस्थिति में एकदम शान्त दिखलायी पड़ते हैं; तथापि उनकी शान्ति का आधार भगवान् आत्मा के आश्रय से उत्पन्न क्षमाभावरूप वीतरागी परिणति नहीं है; अपितु वे यह विचारते हैं कि “मैं साधु हुआ हूँ, अतः मुझे शान्त ही रहना चाहिए;

शान्त नहीं रहूँगा तो लोग क्या कहेंगे? इस भव में तो बदनामी होगी ही; पापबन्ध होने से परभव भी बिगड़ जाएगा। और यदि अभी शान्त रहूँगा तो प्रशंसा तो होगी ही, पुण्यबंध होने से आगे भी सुख-शान्ति प्राप्त ही होगी। शास्त्रों में भी मुनिराजों को क्रोध नहीं करने की आज्ञा है।”

इसप्रकार चिन्तवन से वे बाह्य में शान्त दिखते हैं; परन्तु उनके मिथ्यात्वपूर्वक अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार का क्रोध विद्यमान होने से उत्तमक्षमा सम्भव नहीं है।

**२. उत्तममार्दव :-** मृदुता अर्थात् कोमलता का भाव मार्दव है। सामान्यतया मान कषाय के अभाव को मार्दव कहते हैं। विशेषरूप से जाति आदि आठ प्रकार के मद के आवेश से होनेवाले अभिमान अथवा “मैं परद्रव्य का कुछ भी कर सकता हूँ” - ऐसी मान्यतारूप अहंकारभाव को जड़मूल से उखाड़ देना उत्तम मार्दवधर्म है।

“जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा भी घमण्ड नहीं करता है, उसके मार्दवधर्म होता है।<sup>६</sup>”

**३. उत्तमआर्जव :-** “ऋजुता अर्थात् सरलता का भाव आर्जव है। सामान्यतया माया कषाय के अभाव को आर्जव कहते हैं। विशेषरूप से जो मुनि मन में कुटिल चिन्तवन नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, वह उत्तम आर्जवधर्म का धारी है।<sup>७</sup>”, “योगों का वक्र न होना आर्जव है।<sup>८</sup>”

**४. उत्तमशौच :-** शुचिता का भाव शौच है। सामान्यतया लोभ कषाय के अभाव का नाम शौच है। विशेषरूप से सभी प्रकार के विकारों की अपवित्रता से आत्मा को दूर रखना उत्तम शौच धर्म है।

“जो परम मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्यरूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है, उसको शौचधर्म होता है।<sup>९</sup>”

“प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना शौचधर्म है।<sup>१०</sup>”

**५. उत्तमसत्य :-** सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ प्रगत होनेवाली



ईमानदारी या सत्यता ही सत्यधर्म है। जो मुनि जिनसूत्र ही के वचन को कहे। उसमें जो आचार आदि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहे और जो व्यवहार से भी अलीक अर्थात् असत्य नहीं कहे, वह मुनि सत्यवादी है, उसको **उत्तम सत्यधर्म** होता है।

**उत्तमसंयम :-** “संयमन को संयम कहते हैं; संयमन अर्थात् उपयोग को पर-पदार्थ से समेटकर आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वलीनता ही **निश्चयसंयम** है। अथवा पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप तीनों दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना संयम है।<sup>११</sup>”

“जो मुनि जीवों की रक्षा में तत्पर हुआ, गमन-आगमन आदि सब कार्यों में तृण का छेदमात्र भी नहीं चाहता है, नहीं करता है; उस मुनि के संयमधर्म होता है।<sup>१२</sup>”

**उत्तमतप :-** तप की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि - “जैसे अग्नि तृणराशि को जलाकर खाक कर देती है, उसी प्रकार तपरूपी अग्नि कर्मरूपी तृणों के ढेर को जलाकर राख कर देती है। जैसे सुवर्ण-पाषाण को अग्नि से तपाने पर, उसमें से सोना अलग हो जाता है, उसी प्रकार तपरूपी अग्नि से तपाने पर कर्म से घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है।<sup>१३</sup>”

“पंचेन्द्रिय विषय और क्रोधादि चार कषायों का निग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मचिन्तन करना तप है।<sup>१४</sup>”

“जो आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है, टिकाये रखता है, जोड़े रखता है, वह अध्यात्म है और वस्तुतः ऐसा अध्यात्म ही तप है।<sup>१५</sup>”

जो मुनि इसलोक-परलोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कंचन, निन्दा-प्रशंसा आदि में राग-द्वेष रहित समभावी होता हुआ अनेक प्रकार से कायक्लेश करता है, उस मुनि के

निर्मल तपधर्म होता है।

**समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः।**

“समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व-स्वरूप में प्रतपन करना, विजयन करना तप है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में अपने में लीन होना अर्थात् आत्म लीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है।<sup>१६</sup>”

“सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन करना, दृढ़ता से तन्मय होना सो तप है।<sup>१७</sup>”

“शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुखरूप से प्रतपन (लीनता) तप है।<sup>१८</sup>”

“समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वस्वरूप में प्रतपन करना, विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है।<sup>१९</sup>”

इसप्रकार हम देखते हैं कि नास्ति से इच्छाओं का अभाव और अस्ति से आत्मस्वरूप में लीनता ही तप है।

यद्यपि तप आत्मशोधन एवं कर्मक्षय की एक अखण्ड प्रक्रिया है; तथापि विधि और प्रक्रिया के आधार पर तप का विभाजन दो प्रकार से किया गया है - (१) बाह्य तप और (२) अभ्यन्तर तप। इनमें भी दोनों के छह-छह भेद होते हैं। इनकी चर्चा १२ तप के रूप में प्रथक् से की गई है।

**उत्तमत्याग :-** “निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति त्याग है।<sup>२०</sup>”

“जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि जो जीव समस्त परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है; उसके त्यागधर्म होता है।<sup>२१</sup>”

“परभाव को पर जानना, फिर परभाव का ग्रहण न करना त्याग है।<sup>२२</sup>”

“तप के प्रकरण में तो नियतकाल के लिए सर्वत्याग किया जाता है और त्याग में अनियतकाल के लिए यथाशक्ति त्याग किया जाता है।<sup>२३</sup>”

**उत्तम आकिंचन्य :-** कुछ भी परद्रव्य मेरा नहीं है - ऐसे अकिंचनपने के भाव को आकिंचन्य कहते हैं। जो मुनि राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरणों को छोड़ता है। ममत्व उत्पादक वसतिका आदि को छोड़ता है, उस मुनि के आकिंचन धर्म होता है।<sup>२४</sup>

**उत्तम ब्रह्मचर्य :-** “मोक्षमार्ग में ब्रह्मचर्य को अन्तिम सीढ़ी माना गया है, क्योंकि ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमणता करना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। ‘ब्रह्म’ शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के सम्बन्ध में भी निर्ममत्व हो चुका है, उसी के ब्रह्मचर्य होता है।

“जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनि की चर्या होती है, उसको परदेह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो।<sup>२५</sup>”

जो मुनि स्त्रियों की संगति नहीं करते उनके रूप को नहीं देखते, काम की कथा आदि व उनके स्मरणादिक से रहित हो, उसके नवकोटि से ब्रह्मचर्य होता है। इसप्रकार धर्म के दस लक्षणों को संक्षेप में कहा।

१. मोक्षमार्गः अस्मिन्नाश्रयो वास्तविकोऽस्ति।<sup>२३</sup> पुस्तक मूलतः मोक्षमार्गः, पृष्ठ २२१
५. बारस अणुवेक्खा, गाथा-७१
७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-३९६
९. बारस अणुवेक्खा, गाथा-७५
११. धवला पुस्तक १, खण्ड-१, भाग-१, सूत्र-४, पृष्ठ-१४४
१३. भ. आ., गाथा-१८४५, १८४७
१५. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा १२३
१७. नियमसार गाथा ५५ की टीका
१९. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-७९
२१. बारस अणुवेक्खा, गाथा-७८
२३. राजवार्तिक ९/६
२५. भगवती आराधना, गाथा ८७८
४. पद्मनन्दि पंचविंशतिका ६/५१ ●
६. बारस अणुवेक्खा गाथा-७२
८. सर्वार्थसिद्धि ९-६-४१२/६
१०. सर्वार्थसिद्धि ९/६/४१२/६
१२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-३९९
१४. बारसाणुवेक्खा, गाथा-७७
१६. प्रवचनसार गाथा १४ की टीका
१८. नियमसार टीका गाथा ११८
२०. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गा. २३९
२२. समयसार भाषा टीका, गाथा-३४
२४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४०१
२६. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत

भादों के महीने में काले बादलों की घनघोर घटाओं से दिन में भी अंधकार हो जाता है, दिल दहलाने वाली बादलों की गड़गड़ाहट, आकाश में बिजली की चमकन, मूसलाधार पानी की वर्षा, अनावश्यक घास-फूस, चारों ओर पानी ही पानी। यद्यपि वर्षाऋतु में ये सब अजूबा नहीं हैं; परन्तु इनके कारण मच्छर-मक्खियों का प्रकोप, कीट, पतंगों की भरमार, बिलों में पानी भर जाने से साँप, बिच्छू जैसे जहरीले जीवों का बिलों के बाहर निकल पड़ना और भयाक्रांत होकर जान बचाने के लिए इधर-उधर भागते हुए मनुष्यों के द्वारा जाने/अनजाने बाधा पहुँचाये जाने पर उन्हें डंक मार देना आदि आये दिन की घटनायें हैं।

ऐसी विपरीत परिस्थितियों में हम गृहस्थ लोग तो उनसे बचाव के कुछ न कुछ उपाय कर ही लेते हैं; पर यह सर्वसंग ही त्यागी नग्न दिगम्बर मुनि संघ क्या करे? यह विकट समस्या थी चातुर्मास कमेटी के सदस्यों की। उनको क्या पता कि मुनिराज तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द में ऐसे मग्न रहते हैं कि उस आनन्द के सामने ये छुट-पुट बाधाएँ उन्हें बाधाएँ सी ही नहीं लगतीं।

ज्ञानी श्रावक सोचते हैं - “यह सच है कि मच्छर काटते हैं, आये दिन साँप-बिच्छुओं के उपसर्ग भी होते हैं, तेज पानी के समय आवारा पशु भी वसतिका आदि में आकर बाधा पहुँचाते हैं, परन्तु वे उन्हें परीषह और उपसर्ग जानकर उन बाधाओं को तत्त्वज्ञान तथा आत्मा के आश्रय से शान्ति से सहते हैं तथा उन पर विजय प्राप्त कर प्रसन्न रहते हैं।

सार्वजनिक उपयोग के लिए बनी वसतिकाओं में किवाड़ भी तो नहीं होते। आगम भी किवाड़ लगाने की आज्ञा नहीं देता; क्योंकि साधकों के लिए बने आवासों पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। अन्यथा वे

परिग्रह की श्रेणी में आ जायेंगे, जिसके साधु सर्वथा त्यागी हैं।

अनुमति, आरंभ एवं परिग्रह त्याग प्रतिमा लेते समय पंचमगुणस्थान में भी जब ये आवासादि बनवाना, बनाने की अनुमति देना, आरंभ व परिग्रह की अनुमोदना करना भी संभव नहीं होता तो मुनि की भूमिका में यह सब कैसे संभव होगा? अतः इस सम्बन्ध में मुनि संघ से कुछ भी अपेक्षा रखना ठीक नहीं है।”

यह सब सोचकर श्रद्धालु श्रावकों का धर्मानुरागवश परेशान होना भी स्वाभाविक ही था, जबकि पूरा संघ एकदम सहजभाव से सबका ज्ञाता-दृष्टा रहकर अपने आप में मग्न था, प्रसन्न था। किसी को कोई परेशानी नहीं थी, बल्कि उनके लिए तो उन उपसर्ग को शान्ति से सहना और सहर्ष परिषहजय करना कर्मों की निर्जरा के कारण बन रहे थे।

वस्तुतः जिनके क्रोधादि चतुष्टय की तीन चौकड़ी का अभाव हो गया है, भेदज्ञान के अभ्यास से देह और आत्मा में भिन्नता का भाव प्रगट हो गया है। देह में एकत्व-ममत्व नहीं रहा, उनके लिए ये उपर्युक्त बाधायें कोई बाधायें ही नहीं लगतीं। वे इनके निरोध का न कोई उपाय स्वयं करते हैं, न किसी से कराते हैं तथा न करते हुए की अनुमोदना ही करते। एकदम प्राकृतिक जीवन जीते हैं, निर्दोष मूलगुणों व उत्तरगुणों का पालन करते हैं।

श्रावकों ने भक्तिवश मुनि संघ के आचार्यश्री से प्रार्थना की कि यदि आपकी अनुमति हो तो हम इन बाधाओं को दूर करने का कोई प्राकृतिक/अप्राकृतिक अहिंसक उपाय करें; परन्तु आचार्यश्री ने एकदम दृढ़ता से उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। श्रावकगण सन्तों की साधना, आराधना और तपस्या से अभिभूत थे।

प्रातः बाईसपरिषहों के स्वरूप पर ही आचार्यजी का प्रवचन प्रारंभ हुआ। उन्होंने कहा - “परीषहों को जीतना और उपसर्गों को सहना तो मुनियों के कर्मनिर्जरा का कारण है। इन बाधाओं को दूर करने की जरूरत नहीं है।

यद्यपि मुनि जीवन का साधनामार्ग अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति से सम्पन्न होने से अत्यन्त आनन्दमय है, तथापि मुनि जीवन में शरीर सम्बन्धी विघ्न-बाधाओं का आ जाना असम्भव नहीं है; परन्तु धन्य हैं उन सन्तों का जीवन जो आत्मिक विकास की यात्रा पर गतिशील रहकर, उन समस्त स्थितियों को तत्त्वज्ञान के सहारे समभावपूर्वक सहन करते हैं। जैसे खेल में विजय प्राप्त करने पर खिलाड़ी को जीत की खुशी में छोटी-मोटी चोट की परवा ही नहीं होती, उसीप्रकार मुनि विघ्न-बाधाओं की परवाह नहीं करते। उपसर्गों की आँधी साधुओं की स्वरूपसाधनारूप ज्योति को नहीं बुझा पाती।

मुनि-जीवन में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा विघ्न-बाधाएँ अथवा प्रतिकूलताएँ सदा एक-सी नहीं होतीं, वे विविधरूपा होती हैं। उन विविध परिस्थितियों को समभावपूर्वक सह लेना, उन पर विजय प्राप्त कर लेना परीषह जय कहा जाता है।

इस सन्दर्भ में निम्न आगम के कथन उल्लेखनीय हैं -

“मार्गाच्च्यवननिर्जरार्थ परिषोढव्याः परीषहाः ॥

मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए क्षुधा-तृषा आदि वेदना को सहजता से सह लेना परीषहजय है।”

“क्षुधादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थ सहनं परीषहः ।

क्षुधादि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सहजता से सह लेना परीषहजय है।”

“दुःखोपनिपाते संक्लेशरहितता परीषहजयः ।

दुःख आने पर भी संक्लेश परिणाम न होना ही परीषहजय है।”

“अत्यन्त भयानक भूख आदि की वेदना को जो ज्ञानी मुनि शान्तभाव से सहन करते हैं, उसे परीषहजय कहते हैं।”

“क्षुधादि वेदनाओं के तीव्र उदय होने पर भी समतारूप परम सामायिक

के द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न नित्यानन्दरूप सुखामृत के अनुभव से चलित नहीं होना परीषहजय है।<sup>५</sup>”

“गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, मच्छर आदि की बाधाएँ आने पर आर्त परिणामों का न होना अथवा ध्यान से न चिगना परीषहजय है।

यद्यपि निम्न भूमिकाओं में साधक को उनमें पीड़ा का अनुभव होता है, परन्तु वैराग्य भावनाओं के चिन्तन-मनन द्वारा वे परमार्थ से चलित नहीं होते, दुःखी नहीं होते।<sup>६</sup>”

“आत्महित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखें आपको कष्ट दान ॥

आत्मा के हित के हेतु जो वैराग्य एवं ज्ञान है वह अज्ञानी जीवों को ही कष्टदायक लगते हैं। ज्ञानी तो वैराग्य और ज्ञान को आनन्दमय ही मानते हैं।<sup>७</sup>”

यह बात भी विचारणीय है कि संक्लेशरहित भावों से अर्थात् समभावपूर्वक परीषह को जीत लेने से ही संवर होता है। तात्पर्य यह है कि परीषहजय में पीड़ा रहने पर भी वह कष्टप्रद नहीं लगती; क्योंकि परीषह जय का हर्ष अधिक होता है। ज्ञानी आत्मानन्द के सम्मुख पीड़ा की परवाह ही नहीं करते।

“अज्ञानी जीव क्षुधादिक होने पर उनके नाश का उपाय तो नहीं करता; परन्तु दुःख सहने को परीषहजय मानता है। उसे परीषह सहना मानता है। सो वहाँ क्षुधादि के नाश का उपाय तो नहीं किया और अन्तरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने पर दुःखी हुआ, रति आदि का कारण मिलने पर सुखी हुआ सो वे दुःख-सुखरूप जो परिणाम हैं, वही आर्तध्यान-रौद्रध्यान हैं - ऐसे भावों से संवर कैसे हो? और इसे परीषहजय कैसे कहा जा सकता है?

दुःख का कारण मिलने पर दुःखी न हो और सुख का कारण मिलने पर सुखी न हो, ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहजय है।<sup>८</sup>”

“जो मुमुक्षु पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने के लिए आत्म-स्वरूप में स्थित होकर क्षुधादि बाईस प्रकार की वेदनाओं से दुःखी न होकर निराकुल रहकर सहजता से सहता है, उसी को परीषहविजयी कहते हैं।<sup>९</sup>”

“परीषहजयश्चेति ध्यानहेतवः । परीषहजय ध्यान का कारण है।<sup>१०</sup>”

उपर्युक्त आगम उद्धरणों के आलोक में नवीन कर्मबन्ध का रोकना संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करना ही परीषहजय का एकमात्र उद्देश्य है, प्रयोजन है। मात्र दुःख सहन करना परीषहजय का उद्देश्य नहीं है और न दुःख सहने को परीषहजय कहा ही जाता है। सच तो यह है कि आत्म-उपयोग की दशा में भूख-प्यासादि की वेदना का अधिक अनुभव नहीं होता, जो वेदना का ज्ञान होता है उससे मुनि दुःखी नहीं होते, मात्र ज्ञाता रहते हैं। संवरपूर्वक निर्जरा होकर मुक्ति की उपलब्धि होती है।

जिनागम में बाईस परीषहों का उल्लेख इस प्रकार हैं -

१. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. नाग्न्य, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार-पुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. अदर्शन - ये बाईस परीषह हैं।<sup>११</sup>

१. क्षुधा-परीषह :- क्षुधारूपी अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी जल से शान्त करना। जो मुनि निर्दोष आहार नहीं मिलने पर या अल्पमात्रा में मिलने पर क्षुधा से वेदना को प्राप्त नहीं होता, अकाल में जिसे आहार लेने की इच्छा नहीं होती। जो स्वाध्याय और ध्यानभावना में तत्पर रहते हैं, जिन्होंने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहार को लेते हैं, जिसका गला सूख गया है। ऐसी क्षुधाजन्य बाधा का चिन्तन नहीं करना क्षुधा-परीषहजय है।<sup>१२</sup>

क्षुधा परीषह सहन करना योग्य है; साधुओं का भोजन तो गृहस्थ पर ही निर्भर है, भोजन के लिए कोई वस्तु उनके पास नहीं होती, वे किसी

पात्र में भोजन नहीं करते, किन्तु अपने हाथ में ही भोजन करते हैं; उनके शरीर पर वस्त्रादिक भी नहीं होते।

पुनश्च, अनशन, अवमौदर्य (भूख से कम खाना), वृत्तिपरिसंख्यान (आहार को जाते हुए अटपटे कठोर नियम लेना) आदि तप करते हुए दो दिन, चार दिन, आठ दिन, पक्ष, महीना आदि निराहार में व्यतीत हो जाते हैं और योग्य काल में, योग्य क्षेत्र में अन्तरायरहित शुद्ध निर्दोष आहार न मिले तो भी वे भोजन ग्रहण नहीं करते और इसकारण चित्त में कोई भी विषाद, दुःख या खेद नहीं करते, किन्तु धैर्य धारण करते हैं। वे क्षुधा परीषहजयी होते हैं।

असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा हो, तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीयकर्म की उदीरणा छठवें गुणस्थानपर्यन्त ही होती है, उससे ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होती। छठवें गुणस्थान में रहनेवाले मुनि के भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय, निर्दोष भोजन का योग न बने तो आहार का विकल्प तोड़कर निर्विकल्पदशा में लीन हो जाते हैं, तब उनके क्षुधा परीषहजय कहा जाता है।<sup>१३</sup>

**२. तृषा-परीषहजय :-** “तृषा (प्यास) की उदीरणा के कारण मिलने पर भी प्यास के वशीभूत नहीं होना और उसके प्रतीकार को नहीं चाहना तृषा-परीषहजय है।<sup>१४</sup>”

“जिसने जल से स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करने का त्याग कर दिया है; जिसका पक्षी के समान आसन और आवास नियत नहीं है; जो अति खारे, अति स्निग्ध और अति रूक्ष, प्रकृतिविरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों को मथनेवाली तृषा का प्रतीकार करने में आदरभाव नहीं रखता और जो पिपासारूपी अग्निशिखा को सन्तोषरूपी घड़े में भरे हुए समाधिरूपी जल से शान्त कर रहा है,

उसका पिपासाजय परीषह प्रशंसा के योग्य है।<sup>१५</sup>”

ग्रीष्मऋतु में आतप, पित्तज्वर, अनशनादि तप से हुई पानी की कमी, शरीर और इन्द्रियों को मथनेवाली तृषा को तृप्त करने के उपाय का जिनके मन में विकल्प ही नहीं रहता है। ग्रीष्मऋतु के तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से सन्तापित वनभूमि में निकट ही तालाब होने पर भी उसकी ओर अपने मन को चलायमान नहीं करते, जलकाय के जीवों को बाधा का परित्याग करने की इच्छा से जल की चाह रहित होते हैं।

ज्ञान-ध्यानरूप जल से तृषारूप अग्नि की शिखा को बुझाते हैं, उन साधुओं के तृषा-परीषह का जीतना होता है।<sup>१६</sup>

**३. शीत-परीषहजय :-** शीत के कारणों के मिलने पर शीत के प्रतीकार की अभिलाषा नहीं करना, संयम का परिपालन करना शीत-परीषहजय कहलाता है।<sup>१७</sup>

“शीतपरीषह में मुनिराज विचार करते हैं कि - हे आत्मन्! तूने नरकों में असंख्यात वर्षों तक अनन्त बार कर्मों के वश होकर दुःसह शीतवेदना भोगी है, उसके सामने यह शीतवेदना तो कुछ भी नहीं है। शीत को दूर करने में समर्थ अग्नि, विद्या, मंत्र, औषधि, पत्र, वल्कल, तृण आदि के उपयोग करने के सम्बन्ध में मन में कुछ भी विचार नहीं करते हैं। अपने शरीर को पराये शरीर जैसा मानते हैं। पूर्वकाल में भोगे कामसुख को असार जानकर उसका स्मरण नहीं करते तथा धैर्य से निजस्वरूप का अवलोकन करते हुए आनन्द सहित रात्रि व्यतीत करते हैं।<sup>१८</sup>”

“उस समय मुनिराज आत्मध्यान से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शान्त करने के लिए न तो कुछ ओढ़ने का चिन्तवन करते हैं और न शीत को दूर करनेवाले अग्नि आदि पदार्थों का चिन्तवन करते हैं।<sup>१९</sup>”

**४. उष्ण-परीषहजय :-** चारित्र की रक्षा करने के लिए दाह का प्रतीकार करने की इच्छा का अभाव होना उष्ण-परीषहजय है।<sup>२०</sup>

ग्रीष्म वस्तु के सूर्य की अति उष्ण किरणों से जिनका शरीर सन्तापित रहता है, तृषा से उत्पन्न गर्मी, अनशन तप के कारण पित्त के प्रकोप से हुई गर्मी तथा मार्ग की थकान से उत्पन्न गर्मी से पीड़ित रहने पर भी मुनि आधुनिक एयर कंडीशनर व कूलर आदि का उपयोग तो करते ही नहीं, जल में अवगाहन, चन्दन-कर्पूरादि का लेप, जल के छिड़काव से ठण्डी भूमि का स्पर्श, केले के पत्तों द्वारा की गई हवा, बर्फ इत्यादि शीतल पदार्थों की चाह भी उनके चित्त में उत्पन्न नहीं होती।

मुनि अपने चित्त में विचार करते हैं कि “मैंने इस संसार में पराधीन होकर अति तीव्र उष्णवेदना भोगी है। अब तो मैं मोक्षमार्ग का पथिक कर्म-क्षय करने के कारणरूप तप करने में उद्यमी हुआ हूँ; इसलिए संयम की घातक क्रियाओं की उपेक्षा करके मुझे चारित्र्य की रक्षा करना है।<sup>११</sup>” ऐसे स्वच्छ-शान्तभाव के धारक साधु के उष्ण-परीषहजय होता है।

“उस समय वे निराश्रय पशुओं, मनुष्यों व नारकियों के कर्मों के उदय से होनेवाली तीव्र उष्णवेदना से अपनी तुलना करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृत का पान करते हैं, इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज पानी के छिड़काव से व पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते।<sup>१२</sup>”

**५. दंशमशक-परीषहजय :-** “दंशमशक की बाधा सहन करना, उसका प्रतीकार नहीं करना दंशमशक परीषहजय कहलाता है।<sup>१३</sup>”

“दंशमशक’ पद से डांस-मच्छर, मक्खी, पिस्सू, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छू आदि का ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गयी बाधाओं को बिना प्रतीकार किये सहन करते हैं, मन, वचन और काय से उन्हें बाधा नहीं पहुँचाते हैं वह दंशमशक-परीषहजय है।<sup>१४</sup>”

“जिन्होंने शरीर को ढाँकने का त्याग किया है, अपने रहने के स्थान को वस्त्रों से भी बाँधकर घेरने का त्याग किया है, किसी स्थान विशेष में रहने का नियम नहीं है, दूसरों के लिए बनाये गये, मठ-मकान-गुफा-

तलहटी आदि में रात्रि व दिन में निवास करते हैं। डांस, मच्छर, बिच्छू इत्यादि तीव्रवेदना उत्पन्न करनेवाले अनेक जीवों के तीक्ष्ण डंकों द्वारा मर्मस्थान में काट लेने पर भी अपने परिणामों में विषाद नहीं करते हैं। अपने कर्म के उदय का विचार करते हैं। किसी विद्या, मंत्र, औषधि आदि उपचार से उस परीषह को दूर करने की इच्छा नहीं करते हैं। कर्मरूपी शत्रु के नाश के लिए उद्यमयुक्त होकर समस्त जीवों के प्रति दया के उद्यमी होकर रहते हैं, उनके दंशमशक-परीषहजय होता है।<sup>१५</sup>”

**६. नग्न-परीषहजय :-** नग्न अवस्था धारण करने से बहुत से ठण्डी-गर्मी के उपद्रव होते हैं, अनेक जीव काट लेते हैं और अनेक लोग उनको देखकर हँसते हैं, इन सब उपद्रवों को दिगम्बर अवस्था को धारण करनेवाले मुनिराज बिना किसी प्रकार के संक्लेश परिणामों के धैर्य के साथ सहन करते हैं, इसे नाग्न्य-परीषहजय कहते हैं।<sup>१६</sup>

**७. अरति-परीषहजय :-** संयम में रति करना या संयम विषयक अरति को दूर करना अरति-परीषहजय कहलाता है।<sup>१७</sup> जो संयत इन्द्रियों के इष्ट विषय-सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक हैं; जो गीत, नृत्य और वादित्त आदि से रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर और शिलागुफा आदि स्थानों पर स्वाध्याय, ध्यान और भावना में लीन हैं; पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषयभोग के स्मरण, विषयभोग सम्बन्धी कथा नहीं करते/सुनते उनके अरति-परीषहजय होता है।<sup>१८</sup>

**८. स्त्री-परीषहजय :-** वरांगनाओं का रूप देखने, उनका स्पर्श करने के भावों की निवृत्ति को स्त्री-परीषहजय कहते हैं।<sup>१९</sup> “बगीचा और भवन आदि एकान्त स्थानों में नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापान से प्रमत्त हुई स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुए के समान जिसने इन्द्रिय और हृदय के बहिर्मुखी उपयोग को अपने में समेट लिया और मनोविकार

को रोक लिया है तथा जिन्होंने मन्द मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरों से देखना, हँसना, मदभरी धीमी चाल से चलना और कामबाण मारना आदि को निष्फल कर दिया है; उनके स्त्री-परीषहजय होता है।<sup>३२</sup>

“सुन्दर स्त्रियों के रूप का स्मरण, अवलोकन, स्पर्शनादि से दूर रहना, स्त्री-परीषहजय है।<sup>३३</sup>

“कोई मुनिराज किसी एकान्त स्थान में विराजमान हों और वहाँ पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियाँ आकर हाव, भाव, विलास, शरीर के विकार, मुख के विकार, भोहों के विकार, गाना बजाना, बकवाद करना, कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना और शृंगाररस का प्रदर्शन आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करनेवाला अनर्थ करती हों तो भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं; इसको स्त्री-परीषहजय कहते हैं।<sup>३४</sup>

**९. चर्या-परीषहजय :-** “गमन सम्बन्धी दोषों का निग्रह करना चर्या-परीषहजय है।<sup>३५</sup>”

जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वत पर, किलों में और नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े, काँटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे-छोटे घाव हो जाते हैं, तथापि वे दिगम्बर मुनिराज उन सबको सहन करते हैं, जीतते हैं; इसको चर्या-परीषहजय कहते हैं।<sup>३६</sup>

**१०. निषद्या परीषहजय :-** “संकल्पित आसन से विचलित नहीं होना निषद्या-परीषहजय है।<sup>३७</sup>”

“जिनमें पहले रहने का अभ्यास नहीं है - ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर, गिरिगुफा आदि में जो निवास करते हैं, आदित्य के प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञान से परीक्षित प्रदेश में जिन्होंने नियम-क्रिया की है, जो नियत काल निषद्या लगाकर बैठते हैं, सिंह और व्याघ्र आदि की नाना प्रकार की भीषण ध्वनि के सुनने से जिन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता, चार

प्रकार के उपसर्ग के सहन करने से जो मोक्षमार्ग से च्युत नहीं हुये हैं तथा वीरासन आदि आसन के लगाने से जिनका शरीर चलायमान नहीं होता उनके करना निषद्या-परीषहजय निश्चित होता है।<sup>३८</sup>”

“जो मुनिराज किसी गुफा में पर्वत पर या वनादिक में वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं, तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते; इसीप्रकार कठिन आसन धारण करके भी वे अपने को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं; उनके इस परीषह सहन करने को निषद्या-परीषहजय कहते हैं।<sup>३९</sup>”

**११. शय्या-परीषहजय :-** “आगम में कथित शयन से चलित नहीं होना, आगमानुसार शयन करना शयन-परीषहजय कहलाता है।<sup>४०</sup>”

“यह स्थान सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि दुष्ट जीवों से भरा हुआ है, यहाँ से शीघ्र ही निकल जाना श्रेयस्कर है, कब यह रात्रि समाप्त होगी - इस प्रकार के संकल्प-विकल्पों को नहीं करनेवाले, सुख-स्थान के मिलने पर भी हर्ष से उन्मत्त नहीं होनेवाले, पूर्व में अनुभूत मृदु शय्या का स्मरण न करके आगमोक्त विधि से शयन करनेवाले साधुजनों के शय्या-परीषहजय होता है।<sup>४१</sup>”

“जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिए युक्तिपूर्वक मुहूर्तमात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दण्ड के समान वा किसी एक करवट से सोते हैं, उसको शय्या-परीषहजय कहते हैं।<sup>४२</sup>”

**१२. आक्रोश-परीषहजय :-** “अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश-परीषहजय है।<sup>४३</sup>”

“जो मुनिराज कठोर वचनों को, अपमानजनक शब्दों को, तिरस्कार या धिक्कार के वचनों को अथवा अनेक प्रकार के गाली-गलौच के शब्दों

को सुन करके भी, मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उनको सहन करते हैं, उनको सुनकर कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते, उन मुनियों के आक्रोश परीषहजय कहा जाता है।<sup>४४</sup>”

कठोर वचन सुनते समय मुनिराज विचार करते हैं कि - सामनेवाले व्यक्ति के कर्म के उदय से अज्ञानभाव हो रहा है, हमें देखकर इन्हें दुःख उत्पन्न हुआ है, ये कर्म के परवश हैं, यह इनका अपराध नहीं, मेरे ही अशुभकर्म का उदय है - ऐसा विचारकर दूसरों के द्वारा कहे गये दुर्वचनों से क्लेश को प्राप्त नहीं होते हुए अनिष्ट वचनों को सह लेते हैं, उनके आक्रोश परीषहजय होता है।<sup>४५</sup>

**१३. वध-परीषहजय :-** “मारनेवालों के प्रति भी क्रोध नहीं करना वध-परीषहजय है।<sup>४६</sup>”

“चारों तरफ घूमनेवाले, चोर, म्लेच्छ, भील, शत्रु और द्वेषाविष्ट मिथ्यादृष्टि तपस्वी आदि के द्वारा क्रोधपूर्वक ताड़न, बन्धन, शस्त्राभिघात आदि के द्वारा मारने पर भी जो मुनि बैर नहीं करते हैं। यह उनका वध परीषह है।<sup>४७</sup>”

**१४. याचना-परीषहजय :-** “प्राणों का नाश होने पर भी आहारादि की याचना नहीं करना, दीनता से निवृत्त होना याचना-परीषहजय है।<sup>४८</sup>”

सैकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करने पर भी कभी औषधि, आहार अथवा जल की याचना नहीं करना याचना-परीषहजय कहलाता है।<sup>४९</sup>”

**१५. अलाभ-परीषहजय :-** “आहार, वसतिका आदि के अलाभ में भी लाभ के समान सन्तुष्ट रहनेवाले तपस्वी के अलाभ-परीषहजय होता है।<sup>५०</sup> आहारादि प्राप्त न होने पर भी अपने ज्ञानानन्द के अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना अलाभ-परीषहजय है।<sup>५०</sup>”

**१६. रोग-परीषहजय :-** “नाना व्याधियों के होने पर भी उसके प्रतिकार की इच्छा नहीं करनेवाले के रोग-परीषहजय होता है।<sup>५१</sup>”

“नाना व्याधियों के होने पर भी उनका इलाज करने की इच्छा नहीं करते वह रोग-परीषहजय है।<sup>५२</sup>”

“जो मुनिराज अपने कर्मों की निर्जरा हेतु कोढ़, अपने पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए उदरशूल, बातज्वर, पित्तज्वर आदि दुःखों को देनेवाले ऐसे सैकड़ों असह्य रोगों की महा वेदना को बिना प्रतिकार अथवा बिना इलाज कराये सहन करते हैं, उन बुद्धिमानों के रोग-परीषहजय होता है।<sup>५३</sup>”

**१७. तृण-परीषहजय :-** “तृणादि के निमित्त से वेदना के होने पर भी मन का निश्चल रहना, उसमें दुःख नहीं मानना तृणस्पर्श-परीषहजय है।<sup>५४</sup>”

“सूखा तिनका, कठोर कंकर, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदि के बिंधने से या गड़ने से पैरों में वेदना के होने पर उसमें जिसका चित्त उपयुक्त नहीं है तथा चर्या, शय्या और निषद्या में प्राणिपीड़ा का परिहार न करने के लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमादरहित है, उसके तृणादिस्पर्शबाधा-परीषहजय होता है।<sup>५५</sup>”

“तृण-कण्टक आदि के निमित्त से उत्पन्न हुई वेदना को सहनेवाले साधु के तृणस्पर्श-परीषहजय होता है। शरीर में हुई व्याधि, मार्गगमन से हुई थकान तथा शीत-उष्णता जनित खेद को दूर करने के लिए अपने निमित्त बिना सीधे-सँवारे-व्यवस्थित किये गये सूखे तृण, पत्र, कठोरभूमि, कण्टक, काष्ठकफल, शिलातल आदिक प्रासुक देशों में शैया-आसन आदि करने से तृणादि से प्राप्त हुई बाधा से प्राप्त शरीर में उत्पन्न खाज आदि का विकार हो जाने पर भी तृण-कण्टक-कंकर-कठोर भूमि के स्पर्श जनित दुःख का अनुभव नहीं करनेवाले साधु के तृणस्पर्श-परीषह सहना होता है।”



**१८. मल-परीषहजय :-** “स्व और पर के द्वारा क्रमशः मल के अपचय और उपचय के संकल्प के अभाव को मल-परीषहजय कहते हैं।<sup>६५</sup>

अपकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है - ऐसे परम अहिंसक साधु के सूर्य की किरणों के ताप से उत्पन्न हुए पसीने में पवन के द्वारा लाया गया धूलिसंचय चिपक गया है, कोढ़, खाज और दाद के होने से खुजली के होने पर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थ से घिसनेरूप क्रिया से रहित हैं, तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जल के प्रक्षालन द्वारा कर्ममलपंक को दूर करने के लिए निरन्तर उद्यतमति हैं, उनके मलपीड़ासहन या मल-परीषहजय कहा गया है।<sup>६६</sup>

जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिए, राग को नष्ट करने के लिए और पापकर्मरूपी मल को नाश करने के लिए स्नान आदि को दूर से ही त्याग देते हैं और संस्कार या प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान मल, पसीना, नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं, उसको मल-परीषहजय कहते हैं।<sup>६७</sup>

**१९. सत्कार-पुरस्कार-परीषहजय :-** “मान और अपमान में तुल्यभाव होना, सत्कार-पुरस्कार की भावना नहीं होना, सत्कार-पुरस्कार-परीषहजय है।<sup>६८</sup>”

“मुझे लोग प्रणाम नहीं करते हैं, मेरी भक्ति नहीं करते हैं, हर्षपूर्वक खड़े होकर आसनादि नहीं देते हैं” - ऐसे परिणाम जो साधु कभी नहीं करते हैं, जिन्हें अपने आत्मकल्याण का ही ध्यान रहता है, जो लोगों से सत्कार-पुरस्कार की इच्छा नहीं रखते; उस साधु को सत्कार-पुरस्कार-परीषहजय होता है।<sup>६९</sup>”

**२०. प्रज्ञा-परीषहजय :-** “प्रज्ञा (बुद्धि) का विकास होने पर भी प्रज्ञामद नहीं करना प्रज्ञा-परीषहजय है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान नहीं करना सो प्रज्ञा-परीषहजय है।<sup>७०</sup>”

मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ; शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ; मेरे सामने अन्य लोग सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए जुगनू के समान बिल्कुल सुशोभित नहीं होते हैं; इस प्रकार विज्ञानमद का निरास होना प्रज्ञा-परीषहजय जानना चाहिए।<sup>७१</sup>”

**२१. अज्ञान-परीषहजय :-** “अज्ञान के कारण होनेवाले अपमान एवं ज्ञान की अभिलाषा को सहन करना अज्ञान-परीषहजय है।<sup>७२</sup>”

“जो मुनि स्वल्पज्ञानी हैं, उनके लिए अन्य दुष्ट लोग कहें कि ‘यह अज्ञानी है, परमार्थ को कुछ नहीं जानता, पशु के समान हैं’ इस प्रकार कड़वे वचन आदि को सहन करते हैं तथा ‘मैं इस प्रकार का दुर्धर और पापरहित घोर तपश्चरण करता हूँ तो भी मुझे ज्ञान का कुछ भी अतिशय प्रगट नहीं होता, इस प्रकार जो अपने मन में कभी कलुषता नहीं लाते; उसको अज्ञान-परीषहजय कहते हैं।<sup>७३</sup>”

**२२. अदर्शन-परीषहजय :-** “दीक्षा लेना आदि अनर्थक है’, इस प्रकार मानसिक विचार नहीं होने देना अदर्शन-परीषहसहन है।<sup>७४</sup>”

“शास्त्रों में यह सुना जाता है कि देव लोग श्रेष्ठ योग धारण करनेवाले महा तपस्वियों के लिए प्रातिहार्य प्रगट करते हैं, उनका अतिशय प्रगट करते हैं; परन्तु यह कहना प्रलापमात्र है, यथार्थ नहीं है; क्योंकि मैं बड़े-बड़े घोर तपश्चरण तथा दुर्धर अनुष्ठान पालन करता हूँ तो भी देव लोग मेरा कोई प्रसिद्ध अतिशय प्रगट नहीं करते, इसलिए कहना चाहिए कि यह दीक्षा लेना भी व्यर्थ है।’ इस प्रकार के कलुषित संकल्प-विकल्प को जो मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से कभी नहीं करते हैं, उसको अदर्शन परीषहजय कहते हैं।<sup>७५</sup>”

**परीषह और कायक्लेश में अन्तर**

“जो अपने आप सहज होता है, प्राकृतिक होता है, वह परीषहजय है और जो स्वयं आमंत्रित किया जाता है, वह कायक्लेश है - जैसे - डांस-मच्छर, सर्दी-गर्मी प्राकृतिक है अतः यह परीषहजय है और गर्मी में

पर्वत पर जाना सदी में नदी किनारे जाकर तप करना यह काय क्लेश है।<sup>६७</sup>”  
 “एक साथ एक मुनि के उन्नीस परीषह हो सकते हैं।<sup>६८</sup>”

केवली के क्षुधादि परीषह नहीं होते, क्योंकि - १. केवली जिन के शरीर में निगोद और त्रस जीव नहीं रहते। वे परम औदारिक शरीर के धारी होते हैं; अतः भूख, प्यास और रोगादिक का कारण नहीं रहने से उन्हें भूख, प्यास और रोगादिक की बाधा नहीं होती। देवों के शरीर में इन जीवों के न होने से जो विशेषता होती है, उससे अनन्तगुणी विशेषता इनके शरीर में उत्पन्न हो जाती है।

२. असाता की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है, आगे नहीं होती, इसलिए उदीरणा के अभाव में वेदनीय कर्म क्षुधादिरूप कार्य का वेदन कराने में असमर्थ है। जब केवली जिन के शरीर के पानी और भोजन की ही आवश्यकता नहीं रहती, तब इनके न मिलने से जो क्षुधा और तृषा होती है, वह उनके हो ही कैसे सकती है?

३. सुख-दुःख का वेदन वेदनीय कर्म का कार्य होने पर भी वह मोहनीय की सहायता से ही होता है, चूँकि केवली जिन के मोहनीय का अभाव होता है, अतः यहाँ क्षुधादिरूप वेदनाओं का सद्भाव मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इन प्रमाणों से निश्चित होता है कि केवली जिन के क्षुधादि परीषह नहीं होते। आज इतना ही, बाकी फिर।

ॐ नमः।

इसप्रकार आज आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में बाईस परीषहों की चर्चा करके श्रोताओं को साधुओं की परीषहजय से उत्पन्न आनन्दानुभूति से परिचित कराया। परीषहजय सम्बन्धी इस विवेचन से हमें ज्ञात होता है कि मुक्तिमार्ग के साधक वीतरागी सन्तों की अन्तर पवित्रता तो परमोत्कृष्ट है ही; साथ ही उनका बाह्य जीवन भी वीतरागता का जीवन्त आदर्श है। वे परीषहों की विपरीत परिस्थितियों में भी स्वरूप-साधना में मेरुवत् अचल रहते हैं। उनके इस आदर्श कष्ट सहिष्णु जीवन से हम भी कष्ट

सहिष्णु बनें, अहिंसक जीवन जिएँ। सोचें, कि यदि पुनः पराधीन पशु जीवन मिल गया तब तो यह सब सहना ही पड़ेगा। यदि स्वाधीनता में सहन किया तो कर्मों की निर्जरा होगी। अतः विपरीत संयोगों एवं परिस्थितियों की इन उदयाधीन विपरीत परिस्थितियों में भी हम अपने लक्ष्य को शिथिल न पड़ने दें और निरन्तर ही अपने लक्ष्यपूर्ति की दिशा में अपने कदम आगे बढ़ाते रहें।

- |   |   |
|---|---|
| १. तत्त्वार्थसूत्र, ९/८                 | २. सर्वार्थसिद्धि, ९/२                      |
| ३. भगवती आराधना टीका, ११६५              | ४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ९८            |
| ५. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५           | ६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-३, पृष्ठ-३३ |
| ७. छहढाला २/४                           | ८. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-७, पृष्ठ २२९   |
| ९. अनगार धर्माभूत, ६/८३)                | १०. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ५७               |
| ११. तत्त्वार्थसूत्र, ९/९)               | १२. सर्वार्थसिद्धि ९/९                      |
| १३. तत्त्वार्थ टीका ९/९                 | १५. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                     |
| १६. अर्थप्रकाशिका, ९/९                  | १८. अर्थप्रकाशिका, ९/९                      |
| १९. मूलाचार प्रदीप, ३१३७                | २१. अर्थप्रकाशिका, ९/९                      |
| २२. मूलाचार प्रदीप, ३१३८-४०             | २४. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                     |
| २५. अर्थप्रकाशिका, ९/९                  | २६. मूलाचार प्रदीप, गा. ३१४३-४४             |
| ३०. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                 | ३२. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                     |
| ३३. अर्थप्रकाशिका, ९/९                  | ३४. मूलाचार प्रदीप, ३१४७-४८                 |
| ३६. मूलाचार प्रदीप, ३१४९-५०             | ३८. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                     |
| ३९. मूलाचार प्रदीप, ३१५१-५२             | ४१. तत्त्वार्थवार्तिक, ९/९                  |
| ४२. मूलाचार प्रदीप, ३१५३-५४             | ४४. मूलाचार प्रदीप, ३१५५-५६                 |
| ४५. अर्थप्रकाशिका, ९/९                  | ४९. मूलाचार प्रदीप, ३१६०                    |
| ५१. मोक्षशास्त्र, ९/९                   | ५३. अर्थप्रकाशिका, ९/९                      |
| ५४. मूलाचार प्रदीप, ३१६१-६२             | ५५. तत्त्वार्थवार्तिक, ९/९                  |
| ५६. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                 | ५७. अर्थप्रकाशिका, ९/९, पृष्ठ ४१४           |
| ५८. सर्वार्थसिद्धि एवं वार्तिक ९/९      | ५९. मूलाचार प्रदीप, ३१६५-६६                 |
| ६१. अर्थप्रकाशिका, ९/९                  | ६३. सर्वार्थसिद्धि, ९/९                     |
| ६५. मूलाचार प्रदीप, ३१७१-७२             | ६७. मूलाचार प्रदीप, ३१७४-७६                 |
| ६८. सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक, ९-१९ | ६९. तत्त्वार्थसूत्र, ९/१७                   |

नोट: टिप्पणी नं. १४, १७, २०, २३, २७, २९, ३१, ३५, ३७, ४०, ४१, ४३, ४६, ४७, ४८, ५०, ५२, ५५, ६०, ६२, ६४, ६६ के लिए देखें तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ९ का सूत्र ९।



मुनिधर्म के उत्तरगुणों में बारहतपों का महत्वपूर्ण स्थान है; और इच्छाओं के निरोध का नाम तप है। धवल ग्रन्थ में एक सूत्र आया है - 'इच्छा निरोधस्तपः' इच्छाओं के निरोध का नाम तप है तथा तप से कर्मों की निर्जरा होती है। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र है - 'तपसाः निर्जरा च।' अर्थात् तप से निर्जरा भी होती है। अन्य आचार्यों ने भी इसका समर्थन किया है, जिसकी चर्चा इसी अध्याय में यथा स्थान है।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ३ पृष्ठ ७० पर जो चार प्रकार की इच्छाओं का प्रतिपादन किया है, उसका संक्षिप्त सार यह है कि - दुख का लक्षण आकुलता है और आकुलता इच्छा होने पर होती है। वह इच्छा चार प्रकार की है।

**पहली इच्छा** - विषय ग्रहण की इच्छा - इस इच्छा-पाँचों इन्द्रियों के विषय ग्रहण की बात है। जैसे - वर्ण देखने की इच्छा, राग सुनने की इच्छा आदि।

**दूसरी इच्छा** - कषाय भावों के अनुसार कार्य करने की होती है। जैसे - क्रोध से किसी को पीड़ा पहुँचाने की इच्छा, किसी का बुरा करने की इच्छा, मान से किसी को नीचा दिखाने की इच्छा आदि।

**तीसरी इच्छा** - पापोदय से उत्पन्न इच्छा। जैसे रोग, पीड़ा, क्षुधा, तृषा आदि होने पर उन्हें दूर करने की इच्छा।

**चौथी इच्छा** - बाह्य निमित्तों से होती है। इसमें उपर्युक्त तीनों इच्छाओं के अनुसार प्रवर्तन करने की इच्छा होती है।

ये चारों ही इच्छायें दुःखद हैं। सम्यग्ज्ञान के बल पर इनका निरोध करना तप है। तत्त्वज्ञान के अम्यास से विषय-कषायों को दुःखद माने बिना इनका निरोध संभव नहीं है।

अनादिकाल से अज्ञान अवस्था में ये प्राणी इन इच्छाओं के आधीन हुआ इनकी पूर्ति में परेशान रहा है। कभी पूर्व पुण्योदय से कोई एक इच्छा पूर्ण होती है तो अन्य अनेक इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं। अतः ज्ञानीजन तत्त्वज्ञान के सहारे इनका निरोध करने का जो प्रयत्न करते हैं, वही तप है। वह तप मूलतः दो प्रकार है। एक बाह्य तप, दूसरा अन्तरंग तप।

“बाह्य तप के छह भेद इस प्रकार हैं - (१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्त शय्यासन और (६) कायक्लेश।”

अभ्यन्तर तप के छह भेद इस प्रकार हैं - (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान।<sup>१,२</sup>”

“बाह्य-अभ्यन्तर सभी प्रकार के तपों में इच्छा का निरोध एवं निजस्वरूप में प्रवृत्ति अनिवार्य है। यदि किसी कार्य में इच्छा की अभिवृद्धि पायी जाए तो वह कृत्य तप संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता।

वास्तविकता तो यह है कि जब तक अपने परिपूर्ण स्वरूप की प्रतीति और उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी, तबतक अवश्य ही इच्छाओं की उत्पत्ति होगी; अतः इच्छाओं के निरोध के लिए निज चैतन्यस्वभाव की परिपूर्णता का संवेदन होना अति आवश्यक है। जब मैं स्वभाव से ही परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यसत्ता हूँ और मुझमें रंचमात्र की भी कमी नहीं है तो मैं पर की आशा क्यों करूँ? पर से मुझे कुछ प्राप्त हो - ऐसा भाव भी मुझमें नहीं है। “इस प्रकार स्वभाव सन्मुखता के चिन्तवन एवं अनुभवन से ही इच्छा का अभाव सम्भव है।

बाह्य का अर्थ है बाहर से औरों को दिखायी दे कि यह तपस्वी है।<sup>३</sup>”

“बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से दूसरों को देखने में आनेवाले तप बाह्य तप हैं।<sup>४</sup>”

“जिस तप की साधना शरीर से सम्बन्धित हो या जिसके द्वारा शरीर का मर्दन हो जाने से इन्द्रियों का दमन हो जाता है, वह बाह्य तप है।<sup>५</sup>”

“अभ्यन्तर तप के लिए बाह्य तप साधन के रूप में है, अतः अभ्यन्तर तप प्रधान है। यह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामों से युक्त रहता है, इसके बिना बाह्य तप कर्म-निर्जरा करने में असमर्थ है।<sup>६</sup>”

“बाह्य तप शुद्धोपयोग बढ़ाने को करते हैं। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिए उपचार से तप को निर्जरा का कारण कहा है।<sup>७</sup>”

“जिसके द्वारा मन में दुष्कृत अर्थात् संक्लेश परिणाम उत्पन्न नहीं होते, जिस तप के करने से अभ्यन्तर तप में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिनसे पूर्वगृहीत योग अर्थात् महाव्रत आदि हीन नहीं होते – इस प्रकार के बाह्य तपों का अनुष्ठान करना चाहिए।<sup>८</sup>”

आत्मसाधक सन्तों का एकमात्र लक्ष्य शुद्धोपयोग की अभिवृद्धि करते हुए पूर्णता को प्राप्त करना है। बाह्य तप में भी खाने-पीने इत्यादि के विकल्पों से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग की साधना करना ही उद्देश्य होता है; अतः बाह्य तप, अभ्यन्तर रागभाव की कमी के सूचक भी हैं। हाँ, यदि अन्तरंग में रागभाव में कमी नहीं हुई हो और मानादि कषाय के वशीभूत होकर बाह्य तप किये जायें, तो उन्हें तप नहीं कहा जाएगा।

ध्यान रहे, कोई भी अभ्यन्तर अथवा बाह्य तप सम्यग्दर्शन के बिना समीचीन नहीं होता। सम्यग्दर्शन से रहित मिथ्यादृष्टि के तप को तो बालतप कहा गया है, जो संवरपूर्वक निर्जरा का कारण नहीं होता। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र की सभी टीकाओं में तपों के स्वरूप का वर्णन करते हुए सबके साथ ‘सम्यक’ पद लगाने का निर्देश दिया गया है।

तप का प्रयोजन राग-द्वेष आदि विकारों को सदा के लिए दूरकर आत्म-परिशोधन है, न कि मात्र देह-दमन। तप के माध्यम से आत्मशुद्धि हेतु विकारों को तपाया जाता है, न कि शरीर को। शरीर तो आत्मशुद्धि और आत्मसाधना का माध्यम मात्र है। वस्तुतः जो ज्ञान-स्वभाव की भावना भाता है, उसे बाह्य तप स्वयमेव हो जाता है और अभ्यन्तर तप तो स्वयं आत्मा के ज्ञान, ध्यान आदि रूप हैं, जो आत्मविशुद्धि का साक्षात् साधन है। अतः तप को साधक के जीवन की कसौटी माना जाता है।

## अन्तरंगतप

“अन्तरंग तपों में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (त्याग) और ध्यान के बाह्य प्रवर्तन को तो बाह्यतपवत् ही जानना। बाह्य में अनशनादि बाह्य क्रियायें हैं, उसी प्रकार इनमें भी जो बाह्य क्रियायें हैं; वे बाह्य तपवत् ही हैं, इसलिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधनों को अन्तरंग तप नहीं कहते। ऐसे बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता होती है उसका नाम अन्तरंग तप है।<sup>९</sup>”

ये प्रायश्चित्त आदि अन्तरंग तप अंतःकरण के व्यापार का अवलंबन लेकर होते हैं, इसीलिए इनको अन्तरंग तप कहते हैं। ये बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते।<sup>१०</sup>

“मन का नियमन करनेवाला होने से भी इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं।<sup>११</sup>”

**१. प्रायश्चित्त :-** प्रमादजन्य दोष का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है।<sup>१२</sup>

“प्रायश्चित्त शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रायः+चित्त यहाँ प्रायः शब्द का अर्थ लोक होता है और चित्त शब्द का अर्थ मन होता है। जिस ज्ञान-क्रिया के द्वारा साधर्मी और संघ में रहनेवाले लोगों का मन अपनी तरफ से शुद्ध हो जाये, उस ज्ञान क्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं।<sup>१३</sup>”

“जो ज्ञानी मुनि ज्ञानस्वरूप आत्मा का बारम्बार चिन्तन करता है और विकल्पादि प्रमादों से जिनका मन विरक्त रहता है, उनके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है।<sup>१४</sup>”

“जिस ज्ञान क्रिया से पूर्व में किये पापों से मन निर्दोष हो जाय वह प्रायश्चित्त तप है। प्रतिसमय लगनेवाले अन्तरंग व बाह्य दोषों की निवृत्ति करके अन्तःकरणशोधन करने के लिए किया गया पश्चात्ताप या दण्ड रूप में उपवास आदि का ग्रहण प्रायश्चित्त कहलाता है। बाह्य दोषों का प्रायश्चित्त पश्चात्ताप मात्र से हो जाता है, पर अन्तरंग दोषों का प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष आलोचनापूर्वक दण्ड को स्वीकार किये बिना नहीं होता।<sup>१५</sup>

“संवेग और निर्वेद से युक्त अपराध करनेवाले साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करते हैं, वह प्रायश्चित्त नाम का तप कर्म है।<sup>१६</sup>”

**२. विनयतपः**— रत्नत्रय को धारण करनेवाले पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना व्यवहार से विनय तप है।<sup>१७</sup>

कषायों और इन्द्रियों का उपशमन करना निश्चय विनय तप है।<sup>१८</sup>

मोक्षमार्ग में विनय का प्रधान स्थान है। वह विनय दो प्रकार की है – निश्चय विनय व व्यवहार विनय। अपने रत्नत्रयरूप गुण की विनय निश्चय विनय है और रत्नत्रयधारी साधुओं की विनय व्यवहार या उपचार विनय है – ये दोनों ही अत्यन्त प्रयोजनीय हैं। ज्ञानप्राप्ति में गुरुविनय अत्यन्त प्रधान है। साधु, आर्यिका आदि चतुर्विध संघ में परस्पर में विनय करने सम्बन्धी जो नियम हैं, उन्हें पालन करना व्यवहार विनय तप है। मिथ्यादृष्टियों व कुलिंगियों की विनय करना विनय मिथ्यात्व है।<sup>१९</sup>

मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादि में तथा उनके साधक गुरु आदि में अपनी योग्य रीति से सत्कार, आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय-सम्पन्नता भावना है।<sup>२०</sup>

“मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप के दोष दूर करने के लिए जो कुछ प्रयत्न करते हैं, उसे विनय कहते हैं। तथा इस प्रयत्न में शक्ति को छिपाकर शक्ति के अनुसार उन्हें करते रहना विनयाचार है।<sup>२१</sup>”

“विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है और विनय से आचार्य व सर्वसंघ की सेवा होती है। आचार और प्रायश्चित्त के गुणों का प्रगट होना, आत्मशुद्धि, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, गुरुसेवा, सबको सुखी करना – ये सब विनय के गुण हैं।<sup>२२</sup>”

विनय तप समझने में सावधानी की विशेष जरूरत इस कारण है कि – विनय सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा पुण्य एवं सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, सोलहकारण भावनाओं में विनयसम्पन्नता सबसे बड़ा पुण्य और विनय मिथ्यात्व के रूप में अनन्त संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है। इस कारण विनय के प्रयोग में सजग रहना आवश्यक है।

**३. वैयावृत्त्य तप** :— जो निर्यापक साधु वांछा रहित होकर अपनी चेष्टा से, उपदेश से और यथायोग्य वस्तु से उपसर्ग पीड़ित तथा जरा-रोगादि से क्षीणकाय यतियों का उपकार करता है; उसके वैयावृत्त्य नामक व्यवहार तप होता है।<sup>२३</sup>

प्रवचनसार गाथा २५२ में कहा है कि रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर निर्यापक साधु द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्त्यादि करना व्यवहार वैयाव्रततप है।<sup>२४</sup>

गुणों से अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, दुर्बलसाधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञता सहित मुनियों पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्ति करना वैयाव्रत तप है।<sup>२५</sup>

उपर्युक्त सम्पूर्ण आगम उद्धरणों से सिद्ध है कि शुभोपयोगी मुनिराज किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा बिना रोगादि से पीड़ित मुनिराज की सेवा आदि करके उन्हें धर्म में स्थिर चित्त रखने हेतु जो वैयावृत्त्य आदि करते/कराते हैं वह वैयाव्रत तप हैं।

चरणानुयोग के कथनानुसार वैयावृत्त्य नामक तप मुख्यता से बीमार या समाधिभरण धारण करने वाले उन मुनियों को होता है, जिनको निरन्तर दूसरों से सेवा न कराने की भावना रहती है। वे नहीं चाहते कि उनकी कोई सेवा करे। यही उनका वैयावृत्त्य तप है। वैयावृत्ति कराने की इच्छा के निरोध बिना उसे तप संज्ञा कैसे मिल सकती है?

‘इच्छानिरोधस्तपः’ सूत्र के अनुसार इच्छाओं का निरोध ही तो तप है।

मुनि के अयोग्य कार्य निषिद्ध व्यवहार कहलाते हैं। ऐसे निषिद्ध कार्य मुनिराज को अनुमोदना योग्य नहीं हैं। यदि मुनिराज ऐसे किसी कार्य में संलग्न होते हैं तो निश्चित ही उनका अधःपतन होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा २३० में निषिद्ध व्यवहार के विषय में कहा है कि - “बाल, वृद्ध, श्रांत अर्थात् परिश्रमी, थका हुआ या ग्लान अर्थात् व्याधिग्रस्त, रोगी, दुर्बल, श्रमण मूल का छेद जैसे न हो, उस प्रकार से अपने योग्य आचरण आचरो।

“बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियों में समाधिधारक या साधक मुनि को शुद्ध उपयोग से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करना तथा लोक-व्यवहार से विरक्त रहना उत्कृष्ट निश्चय वैयावृत्यतप है।<sup>१६</sup>”

तात्पर्य यह है कि सूत्र में कथित दश प्रकार के मुनियों की सेवा करना अर्थात् उनके शरीर सम्बन्धी व्याधि, दुष्ट मनुष्य और तिर्यचकृत उपसर्ग, क्षुधादि परीषह तथा मिथ्यात्वादि की उत्पत्ति हो जाये तो प्रासुक औषधि, भोजन, वसतिका, काष्ठ, फलक, घास की सेज, धर्मोपदेश आदि धर्मोपकरणों से उनका इलाज करना। उपदेश देकर फिर सम्यक्त्व ग्रहण कराना इत्यादि व्यवहार वैयावृत्य तप है। यह व्यवहार वैयावृत्य तप सेवा करने वाले साधु को होता है तथा वैयावृत्य कराने की इच्छा का समाधिधारी मुनि द्वारा निषेध वर्तना वास्तविक अर्थात् निश्चय वैयावृत्य तप है।

यदि भोजन, पानी, औषधि आदि बाह्य सामग्री नहीं हो तो अपने शरीर से उनकी सेवा करना। कफ, नासिका मल, मूत्र, विष्टादि को दूर फेंक आना; उन्हें जिस प्रकार सुख हो, उस प्रकार उनके शरीर की सेवा आदि करना। जिस प्रकार उनकी धर्म में रुचि, प्रवृत्ति हो जाए, उस प्रकार उपदेश देकर धैर्य धारण कराना, उनके अनुकूल आचरण करना; वह

समस्त व्यवहार वैयावृत्य तप है।<sup>१७</sup>

(१) समाधि उत्पन्न कराना, (२) ग्लानि का निवारण, (३) प्रवचन-वात्सल्य, (४) असहायपने की अनुभूति न होने देना, (५) सर्वज्ञ की आज्ञा का परिपालन, (६) निर्दोष रत्नत्रय का दान और (७) संयम में सहयोग करना - ये वैयावृत्य के उद्देश्य हैं।

साधु सेवा के लिए गृहस्थों से प्राप्त सामग्री के सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने प्रवचनसार की २३० गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आज्ञा दी है कि - “रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य के लिए शुभोपयोग से युक्त लौकिकजनों के साथ बातचीत निन्दित नहीं है। यह प्रशस्तभूत कहलाती है।”

**४. स्वाध्याय तप :-** “आलस्य का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है।<sup>१८</sup>”

“जिनोपदिष्ट बारह अंगों और चौदह पूर्वों का उपदेश करना, प्रतिपादन आदि करना स्वाध्याय है।<sup>१९</sup>”

स्वाध्याय शब्द की निरुक्ति - स्व + अध्याय = स्वाध्याय। यहाँ ‘स्व’ से तात्पर्य आत्मा के लिए हितकारक और ‘अध्याय’ का अर्थ शास्त्रों का अध्ययन अर्थात् आत्मा के लिए हितकारक परमागम शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

तात्पर्य यह है कि आत्मकल्याण के पावन उद्देश्य से आत्महितकारी शास्त्रों का योग्य विधिपूर्वकअध्ययन-अध्यापन, श्रवण-मनन, चिन्तवन-उपदेश आदि स्वाध्याय कहलाता है।

सम्यग्ज्ञानरहित पक्षोपवास व मासोपवास करनेवाले अज्ञानी से भोजन करनेवाला स्वाध्याय में तत्पर सम्यग्दृष्टि परिणामों की विशुद्धि अधिक कर लेता है।<sup>२०</sup>

बारह तपों में मात्र व्युत्सर्ग एवं ध्यान तप ही स्वाध्याय तप से महान माने गये हैं। शेष सभी तपों की तुलना में स्वाध्याय तप का विशेष महत्त्व

है। सत्शास्त्र का वाँचना, मनन करना, उपदेश देना आदि स्वाध्याय सर्वोत्तम तप माना गया है। मोक्षमार्ग में इसका बहुत ऊँचा स्थान है।<sup>३१</sup>

**५. व्युत्सर्गतपः** – “बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का नियत काल के लिए सर्वत्याग करना व्युत्सर्गतप कहलाता है।<sup>३२</sup>”

“देह को अचेतन, नश्वर और कर्म-निर्मित समझकर जो उसके पोषण आदि के अर्थ कोई कार्य नहीं करता; वह कायोत्सर्ग तप धारक है।<sup>३३</sup>”

“काय आदि परद्रव्यों में स्थिरभाव अर्थात् लीनता को छोड़कर, जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है; उसे कायोत्सर्ग कहते हैं।<sup>३४</sup>”

कायोत्सर्ग में शरीर का त्याग होता है। जैसे पवनञ्जय और अंजना की भाँति प्रियतमा पत्नी से कुछ अपराध हो जाने पर पति के साथ एक ही घर में रहते हुए भी पति का प्रेम हट जाने के कारण वह त्यागी हुई कही जाती है। इसीप्रकार काय को त्यागना तो अपघात है, काय को छोड़ा नहीं जा सकता, पर उसके प्रति ममत्व का त्याग किया जा सकता है। अतःकाय के प्रति ममत्व का त्याग ही कायोत्सर्ग है।<sup>३५</sup>

**६. ध्यान तपः** – ध्यान का स्वरूप एक ज्ञेय में ज्ञान का एकाग्र होना है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है – ‘एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं’ जो पुरुष धर्म में एकाग्रचित्त करता है, उस काल में इन्द्रिय-विषयों का वेदन नहीं करता, उसे ही धर्मध्यान होता है। उसका मूल कारण संसार, देह, भोग से वैराग्य है। कारण कि वैराग्य के बिना धर्म में चित्त स्थिर नहीं होता।

आत्मा को ‘स्व’ के प्रति अपेक्षा होने पर, ‘पर’ की उपेक्षा हुए बिना नहीं रहती – ऐसे ‘पर’ की उपेक्षा करनेवाले को ही अन्तरंग में स्थिरता होती है। धर्मध्यानवाला विकार में एकाग्र नहीं होता, अपितु अन्दर में जो स्वयं एक ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसे लक्ष्य में लेता है।

धर्मध्यान के सम्बन्ध में विविध परिभाषायें जिनमें कुछ इसप्रकार हैं –

धर्म से युक्त प्रवृत्ति धर्म ध्यान है।<sup>३६</sup> सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान है।<sup>३७</sup>

जिससे धर्म का परिज्ञान होता है, वह धर्मध्यान का लक्षण समझना चाहिए।<sup>३८</sup>

राग-द्वेष त्याग कर साम्यभाव से यथास्थित जीवादि पदार्थों का चिन्तवन करना धर्मध्यान है।<sup>३९</sup>

पुण्य रूप आशय के वश से तथा शुद्ध लेश्या के अवलम्बन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिन्तवन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त ध्यान है।<sup>४०</sup>

पंचपरमेष्ठी की भक्ति से तदनुकूल शुभ अनुष्ठान व पूजा-दान आदि में बहिरंग धर्मध्यान होता है।<sup>४१</sup>

**धर्मध्यान के चिन्ह** :- आगम उपदेश व जिज्ञासा के अनुसार कहे गये पदार्थों का श्रद्धान होता है, वह धर्मध्यान का लिंग (पहचान) है। जिनश्रुत का गुणगान कीर्तन, प्रशंसा, विनय, श्रुतशील व संयमरत रहना ये सब बातें धर्मध्यान में होती हैं।<sup>४२</sup>

### बाह्यतप

**१. अनशनतपः** :- इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों से हटकर, राग-द्वेष रहित आत्मस्वरूप में बसने या लीन होने से खाद्य, स्वाद्य, लेह और पेय – इन चार प्रकार के आहार का विधिपूर्वक त्याग करना उपवास या अनशन कहलाता है।

“मन और इन्द्रियों को जीतकर इहभव तथा परभव के विषय-सुखों की अपेक्षा रहित होना, साथ ही आत्मध्यान और स्वाध्याय में लीन रहकर कर्मक्षय के लिए एक दिन, दो दिन इत्यादिरूप काल-परिमाण सहित सहजभाव से किया गया आहार-त्याग अनशनतप है।<sup>४३</sup>”

मुनीन्द्रों ने संक्षेप में इन्द्रियों को विषयों में न जाने देने को, मन को अपने आत्मस्वरूप में लगाने को उपवास कहा है; इसलिए जितेन्द्रिय आहार करते हुए भी उपवास सहित ही होते हैं।<sup>४४</sup>

चार प्रकार के आहारों का त्याग करना अनशन है। यह अनशन तीन प्रकार का है - मैं भोजन करूँ, भोजन कराऊँ, भोजन करनेवाले को अनुमति दूँ; इसतरह मन में संकल्प करना। मैं आहार लेता हूँ, तुम भोजन करो, तुम भोजन पकाओ; ऐसा वचन से कहना। चार प्रकार के आहार को संकल्पपूर्वक शरीर से ग्रहण करना, हाथ से इशारा करके दूसरे को ग्रहण करने में प्रवृत्त करना, आहार ग्रहण करने के कार्य में शरीर से सम्मति देना - ऐसी जो मन, वचन, काय की क्रियाएँ, उन सबका त्याग करना अनशन है।”<sup>४५</sup>

**कषायविषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते।**

**उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः।।**

जहाँ कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाता है, उसे उपवास जानना; शेष को श्रीगुरु लङ्घन कहते हैं।<sup>४६</sup>

**२. अवमौदर्य तप :-** “तृप्ति के लिए पर्याप्त भोजन में से चतुर्थांश या दो-चार ग्रास कम खाना अवमौदर्य या ऊनोदर है।”<sup>४७</sup>

पुरुष का प्राकृतिक आहार बत्तीस और स्त्रियों का अट्ठाईस ग्रास (कवल) प्रमाण होता है। उनमें से एक-एक ग्रास कम करते हुए, जब तक एक ग्रास या कण मात्र रह जाय, तब तक अल्प आहार ग्रहण करना अवमौदर्य तप है।<sup>४८</sup>

“आहार की अतिचाह से रहित होकर, शास्त्रोक्त चर्या की विधि से योग्य, प्रासुक, अल्प आहार लेना अवमौदर्य तप है।”<sup>४९</sup>

“संयम की वृद्धि, निद्रा-आलस्य का नाश, वात-पित्त-कफ आदि दोष का प्रशमन, सन्तोष, स्वाध्याय आदि सुखपूर्वक होवें, इसके लिए थोड़ा आहार लेना अवमौदर्य है।”<sup>५०</sup>

जो पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ हैं, उन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान आती है, जो अपने तप के माहात्म्य से भव्य जीवों को उपशान्त करने में लगे हैं, जो अपने

उदर में कृमि की उत्पत्ति का निरोध करना चाहते हैं और जो व्याधिजन्य वेदना के निमित्तभूत अतिमात्रा में भोजन कर लेने से स्वाध्याय के भंग होने का भय करते हैं, उन्हें यह अवमौदर्य तप करना चाहिए।”<sup>५१</sup>

“जो मुनि कीर्ति के निमित्त, मायाचारी से अल्प भोजन करता है, उसके अवमौदर्य तप निष्फल है।”<sup>५२</sup>

**“३. वृत्तिपरिसंख्या तप :-** भोजन, पात्र, घर, मुहल्ला आदि को वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का परिमाण या नियंत्रण ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।”<sup>५३</sup>

“आशा-तृष्णा का दमन करने के लिए एक घर, सात घर, एक-दो गली, अर्द्धग्राम, दाता आदि प्रवृत्ति का विधान या भोजन के विषय में होनेवाले संकल्प-विकल्प और चिन्ताओं का नियंत्रण करना वृत्ति है, उसमें परिसंख्यान अर्थात् मर्यादा करना, गणना करना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप कहा जाता है।”<sup>५४</sup>

वृत्तिपरिसंख्यान तप के उद्देश्य इस प्रकार हैं -

(१) “इन्द्रिय और मन का निग्रह (२) भोजनादि के प्रति रागवृत्ति को दूर करना (३) आशा-तृष्णा की निवृत्ति, (४) धैर्य गुण की वृद्धि, (५) भूख-प्यास सहन करने का अभ्यास और (६) अपनी वृत्तियों पर कठोर संयम।”<sup>५५</sup>

**४. रसपरित्याग तप :-** “दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और लवण - इन सब रसों का त्याग करना अथवा एक-एक रस का त्याग करना अथवा तीखा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा - इन पाँच प्रकार के रसों का एकदेश या सर्वदेश त्याग करना। रस सम्बन्धी लम्पटता को मन, वचन और शरीर के संकल्प से त्यागना रसपरित्याग तप है।”<sup>५६</sup>

जो मुनि संसार के दुःख से तप्तयमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियों के विषय विषयमान हैं; विष खाने पर तो एक ही बार मरता है, परन्तु विषयसेवन करने पर बहुत जन्म-मरण होते हैं - ऐसा विचार कर



जो नीरस भोजन करता है, उसके रसपरित्याग तप निर्मल होता है।<sup>५७</sup>

(१) “इन्द्रियों के मद का निग्रह करना, (२) निद्रा को जीतना, (३) स्वाध्याय आदि की सिद्धि, (४) प्राणी संयम तथा इन्द्रिय संयम की प्राप्ति, (५) असंयम का निरोध, तथा (६) रसना-इन्द्रिय की स्वादवृत्ति पर विजय की साधना इस व्रत का उद्देश्य है।”<sup>५८</sup>

**५. विविक्तशय्यासन तप :-** “अप्रमादी मुनि द्वारा सोने, बैठने व ठहरने के लिए तिर्यचनी, मनुष्यनी, विकारसहित देवियाँ और गृहस्थों के मकानों में वास करने का त्याग करना विविक्तशय्यासन तप है।”<sup>५९</sup>

(१) “सुखपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होना, (२) मन-वचन-काय की अशुभवृत्तियों को रोकना, (३) ब्रह्मचर्य का पालन, (४) ध्यान और स्वाध्याय में वृद्धिकरण (५) गमनागमन का अभाव होने से जीवों की रक्षा और (६) कष्टसहिष्णुता।<sup>६०</sup> इसके चिन्ह हैं।”

**६. कायक्लेश तप :-** “खड़े रहना, एक करवट से मृत की तरह सोना, वीरासन आदि से बैठना इत्यादि अनेक प्रकार से शास्त्रानुसार विवेकपूर्वक आतापनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है।<sup>६१</sup>

आतापनयोग, वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार के आसन इत्यादि करना कायक्लेश है।”

“जो मुनि दुःसह उपसर्ग को जीतनेवाला है, आताप-शीत-वात पीड़ित होकर भी खेद को प्राप्त नहीं होता है। चित्त में क्षोभ अर्थात् क्लेश भी नहीं करता है, उस मुनि को कायक्लेश नामक तप होता है।”<sup>६२</sup>

कायक्लेश तप करने से यह लाभ है कि - (१) “देह के प्रति उपेक्षाभाव, (२) परीषह सहन करने की भावना, (३) शारीरिक सुख की अभिलाषा का अभाव, (४) शारीरिक कष्ट सहने की सहनशक्ति तथा (५) जिन मार्ग की प्रभावना होती है।”<sup>६३</sup>

शीत, वात, आतप, बहुत उपवास, क्षुधा तृषा आदि बाधाओं को सहने हेतु वीर आदि आसनों से ध्यान का अभ्यास किया जाता है; क्योंकि

जिसने शीतबाधा आदि और उपवास आदि की बाधा का अभ्यास नहीं किया है और मरणान्तिक असाता आदि से खिन्न हुआ है, उसके ध्यान नहीं बन सकता। इस समय मुनि यह चिन्तन करने लगे कि जो परीषह, कष्ट आदि हैं, वे आत्मा में नहीं, अपितु शरीर में होते हैं और यह शरीर मेरा नहीं है। यही चिन्तन कायक्लेश तप का आध्यात्मिक आधार है, इससे देहासक्ति और देहाभ्यास को कम करने का बल प्राप्त होता है।”<sup>६४</sup>

“कायक्लेश तप करने से अकस्मात् शारीरिक कष्ट आने पर सहनशीलता बनी रहती है। विषय-सुखों में आसक्ति नहीं होती है तथा धर्म की प्रभावना होती है, अतः कायक्लेश तप करना चाहिए। यदि कायक्लेश तप का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो ध्यानादि के समय में सुखशील व्यक्ति को द्वन्द्व (दुःख या आपत्ति) आने पर चित्त का समाधान नहीं हो सकेगा अर्थात् चित्त स्थिर नहीं रहेगा।”<sup>६५</sup>

आत्मसाधना करते हुए, यदि अनेक प्रकार के कष्ट आ पड़ें तो स्वरूपानुभव के बल से उनसे निरपेक्ष रहकर अनवरतरूप से आत्मसाधना करते रहना कायक्लेश तप है। कायक्लेश का मुख्य प्रयोजन शरीर को कष्ट देना न होकर शारीरिक कष्ट की उपेक्षावृत्ति एवं निजस्वरूप की अपेक्षावृत्ति है।

“बाह्य तप श्रावकों और मुनियों को सन्मार्ग में तत्पर बनाये रखने के अद्वितीय साधन हैं। श्रमण को जितेन्द्रिय बनाने में बाह्य तप की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मन का संयमन तो सभी तपों में होता ही है। बाह्य तप पंचेन्द्रिय विषय-सुखों के प्रति उदासीनता लाने, कष्ट-सहिष्णु बनने, आलस्य दूर करने, शरीर से ममत्वभाव दूर करने तथा आत्म-कल्याण में प्रवृत्त रहने में अत्यधिक सहयोगी बनते हैं।”

“अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग - इन चार तपों के द्वारा मुख्यरूप से रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त की जाती है। कायक्लेश और विविक्तशय्यासन - ये दो तप स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और

कर्णेन्द्रिय – इन चार इन्द्रियों तथा इनके विषयों के प्रति अनासक्त बनाने में सहयोग करते हैं।”

इस प्रकार १२ तपों की चर्चा हुई। शेष फिर।

ॐ नमः।



- १-२. मूलाचार, गाथा ३४६ एवं तत्त्वार्थसूत्र, ९/१९
३. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२३१
५. अनगार धर्माभूत ७/८
७. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. २३०
९. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२३२
११. सर्वार्थसिद्धि ९/२०
१३. अनगार धर्माभूत, ७/३७
- १५-१६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-३, पृष्ठ-१५७
१८. चारित्रसार, पृष्ठ १४७
१९. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-३, पृष्ठ ५४७
२१. सागर धर्माभूत, ७/३५
२३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४५७
२५. मूलाचार गाथा ३९० व १०४
- २७ अर्थप्रकाशिका, पृष्ठ ४३०-४३१
२९. मूलाचार, गाथा ५११
३१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-३, पृष्ठ ५२२
३३. अमितगतिकृत योगसार, ५/५२
३५. भगवती आराधना टीका, गाथा ११६
३७. रयणसार मूल, गाथा ८७
३९. ज्ञानसार-१०
४१. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति १५०/२१७/१६
४३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४४०
४५. भगवती आराधना टीका, गाथा-६
४७. राजवार्तिक व सर्वार्थसिद्धि
४९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४४१
५१. धवला १३/५, ४, २६/५६
५३. धवला १३/५, ४, २६/५७
५५. भगवती आराधना टीका ६/३२
५७. राजवार्तिक, धवला इत्यादि के आधार पर
५९. मूलाचार वृत्ति, गाथा ३५६
६१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४४८
६३. तत्त्वार्थवार्तिक, पृष्ठ ६२६
४. सर्वार्थसिद्धि ९/१९
६. भ. आ., गाथा- १३४८/१३०६
८. मूलाधार ५/१६१
१०. राजवार्तिक ९/२०
१२. सर्वार्थसिद्धि ९/२० टीका
१४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४५५
१७. धवला १३/५, ४, २६/६३
२०. राजवार्तिक, ६/२४
२२. भगवती आ., गा १२९-१३१
२४. प्रवचनसार गाथा २४७
२६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक ४६०
२८. सर्वार्थसिद्धि, ९/२०
३०. भगवती आरा., गा १०७-१०९
३२. तत्त्वार्थसूत्र ९/२६
३४. नियमसार, गाथा १२१
३६. स. सि. ९/३६ रा.वा. ९/३२
३८. भ. आ. मू. १७०९
४०. ज्ञानार्णव २५/८
४२. धवला पु.३/५/४/२७/५४/५५
४४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४३०
४६. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१
४८. मूलाचार, गाथा ३५० टीका
५०. सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पृष्ठ ३६३
५२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४४२
५४. तत्त्वार्थवार्तिक, सूत्र ९/१९
५६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४४६
५८. मूलाचार, गाथा ३५७
६०. सर्वार्थ. एवं तत्त्वार्थवार्तिक ९/१९
६२. मूलाधार समीक्षा, पृष्ठ १८३
६४. मूलाचार समीक्षा पृष्ठ १८५-१८६

देवगढ़ क्षेत्र के निकट एक ऐसी नगरी है। जहाँ धार्मिक वातावरण हमेशा अपनी चरम सीमा पर रहा है। वह जैन समाज का ऐसा केन्द्र रहा, जहाँ विभिन्न विचारधारा वाले साधु-संतों का आवागमन बना ही रहता है। इस कारण वहाँ की बहुसंख्य जैन समाज में साधु-संतों की भक्ति कुछ अधिक ही है। वहाँ समाज का सोच है कि - “गृहस्थों को मुनियों की आलोचना का अधिकार नहीं है, पुराणों में भी ऐसा लिखा मिल जाता है कि चार रोटियाँ देने के लिए साधु की क्या परीक्षा करना?”

यह सच है कि चार रोटियों के लिए परीक्षा नहीं करना चाहिए; परन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन के निमित्त सच्चे-देव-गुरु का यथार्थ स्वरूप तो जानना ही होता है। अन्यथा मोक्षमार्ग की शुरुआत कैसे होगी? क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन में सच्चे-देव-गुरु की यथार्थ श्रद्धा अनिवार्य है। अब तक इस बात की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। अस्तु:

वहाँ के अनेक विशालकाय जिनमन्दिर इस बात के प्रतीक हैं कि वह नगरी प्राचीन काल से ही धन और धर्म से समृद्ध जैननगरी रही है। इतना ही नहीं वहाँ जैन समाज को अभी भी धर्म से इतना लगाव है कि शैक्षणिक समितियों एवं सामाजिक संगठनों की पार्टियाँ भी निश्चय और व्यवहारनय के नाम से प्रचलित हैं।

भले ही बहुसंख्य समाज को नयज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन नहीं रहा हो, परन्तु इतना तो सभी जानते ही हैं कि स्याद्वाद शैली में नयों के कथन से ही वस्तु का स्वरूप समझाया जाता है, फिर भी समझ की कमी के कारण श्रोताओं में किन्हीं को निश्चयनय का पक्ष हो जाता है तो किसी को व्यवहार का; जबकि जिनवाणी में मुख्य-गौण रूप से दोनों नयों की चर्चा की गई है। अस्तु :-

जहाँ इतना बड़ा समाज हो, वहाँ मतभेद तो स्वाभाविक ही है। एक ही घर में पिता-पुत्रों में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में मतभेद देखे जाते हैं, फिर इतने बड़े समाज की विचारधारा एक कैसे हो सकती है? अच्छी बात यह है कि मतभेद के बावजूद भी परस्पर में मनभेद नहीं है।

व्यापार में सब साथ-साथ रहते हैं। कभी भी परस्पर में वैर-विरोध नहीं रखते। मतभेद के बावजूद भी सामूहिक धार्मिक कार्यक्रमों में एक दूसरे का सहयोग भी करते हैं, परन्तु सामाजिक चुनावी वातावरण ही ऐसा होता है कि इसमें कोई कितना भी सावधान रहे, सजग रहे; फिर समाजिक एकता प्रभावित हुए बिना नहीं रहती; क्योंकि चुनावी भूत ही ऐसा होता है, जो सर पर चढ़कर बोलता है। इसकारण कभी-कभी हल्के हथकण्डे अपनाना भी अस्वाभाविक नहीं है। परिणामस्वरूप वातावरण में क्षणिक/किंचित् कड़वाहट हो जाती है।

--

--

--

उस नगर का जैन समाज भी आचार्यश्री के प्रवचन सुनने प्रतिदिन देवगढ़ तो पहुँचता ही था। एक मध्यस्थ श्रोता से जब आचार्यश्री को उस नगर की यह परिस्थिति ज्ञात हुई तो आचार्यश्री ने अधिक कुछ न कहकर दोनों पक्षों को लक्ष में रखकर यह सलाह दी कि “जिनमंदिरों के मुखिया अपने-अपने जिनमंदिरों के मुख्य द्वार पर यह श्लोक अवश्य लिखाओ -

“जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहारिणच्छए मुणह ।

एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥”

अर्थात् यदि जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो दोनों नयों में से किसी को भी मत छोड़ो। यदि निश्चयनय का पक्षपाती होकर व्यवहारनय की उपेक्षा करोगे तो धर्मतीर्थ प्रवर्तन का नाश हो जायेगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चयनय की उपेक्षा करोगे, छोड़ दोगे तो तत्वों का लोप हो जायेगा। अतः दोनों नयों के स्वरूप को यथार्थ समझकर

जिनवाणी के रहस्य को जानो, क्योंकि जिनवाणी की प्ररूपणा दोनों नयों से हुई है। इस कारण दोनों नयों का जिनवाणी में अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान है। अतः हम नयों की पार्टियाँ बना कर इन्हें राग-द्वेष का कारण न बनायें।

यह सुनकर श्रोताओं को मार्गदर्शन भी मिला और नयों को समझने की जिज्ञासा भी जगी।

आचार्य श्री ने आगे कहा - “निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जिनवाणी माता के दो नेत्र हैं। ऐसे कौन मातृ भक्त पुत्र होंगे जो परस्पर की लड़ाई में अपनी माता को कांणा करना चाहेंगे।”

श्रोताओं की ओर से आवाज आई - “इस समाज में तो जिनवाणी माता का ऐसा कोई कपूत नहीं है जो जिनवाणी माँ को कांणा करना चाहेगा? हाँ, जब बात सामने आ ही गई तो हे स्वामी! आप आज इसी विषय का स्पष्टीकरण करने की अनुकम्पा करें, ताकि हम सब समाज का भ्रम भंग हो जाय और हम सब एकता के सूत्र में ऐसे बँध जायें जो कभी टूटने का नाम भी न ले।

आचार्यश्री समाज की नियमित स्वाध्याय न करने की वृत्ति से सुपरिचित थे। अतः नयों जैसे कठिन विषय को सरलता से समझाते हुए उन्होंने कहा - “देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका के मंगलाचरण में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने एक छन्द में ही निश्चय व व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को न जानने वालों की तीन तरह की भूलों का उल्लेख करते हुए दोनों नयों का जो समन्वय किया है, वह सबके समझने लायक तो है ही, अपनी भूल को सुधारने के लिए भी पर्याप्त है। वे कहते हैं -

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,

भयो है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता ।

कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,

आत्मा का हित मान छोड़ें नहीं मूढ़ता ।

कोई व्यवहारनय निश्चय के मारग को,  
भिन्न-भिन्न जानकर करै निज उद्धता ।  
जानें जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,  
कारण को उपचार मानें तब बुद्धता ॥

अर्थात् कोई-कोई तो निश्चयनय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को सुनकर अभी अशुद्धावस्था में ही आत्मा को परमात्मा जैसा शुद्ध मानकर स्वच्छन्द हो जाते हैं। दूसरे, कुछ लोग व्यवहारनय से धर्म संज्ञा को प्राप्त पूजा-पाठ, दान-पुण्य तथा शील, तप के शुभ भावों में ही धर्मबुद्धि से आत्मा का हित मानकर अपनी मूर्खता-अज्ञानता नहीं छोड़ते, आत्मा के वीतराग स्वभावरूप धर्म को जानने का प्रयत्न नहीं करते। तीसरे, कुछ लोग ऐसे हैं जो मानते तो दोनों नयों को हैं, परन्तु दोनों के विषयों को भिन्न-भिन्न जानकर और स्वयं को नयों का ज्ञाता मानकर अपनी मान कषायवश उदण्ड प्रवृत्ति नहीं छोड़ते।

जब लोग यह मानें/समझें कि निश्चय और व्यवहार दोनों ही नय जिनवाणी माँ के दो नेत्र हैं। जब हमें शुद्धात्मा को जानना हो, उस समय व्यवहारनय के नेत्र को बंद करके और निश्चय के नेत्र को खोल करके देखना होगा तथा जब आत्मा के भेद-प्रभेदों को जानना होगा तथा पापादि से बचना होगा तो व्यवहारनय से कारण के रूप में कहे गये व्यवहार धर्म को, पूजा-पाठ आदि को अपनाना होगा।”

तात्पर्य यह है कि आत्मा से परमात्मा बनने के लिये निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय उपादेय है और उस शुद्धात्मा तक पहुँचने के लिए और पापों से बचने के लिए व्यवहारनय का विषय सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पूजा, भक्ति एवं स्वाध्याय अनुकरणीय है। ऐसा दोनों नयों का सुन्दर सुमेल है।

**द्रव्यदृष्टि में प्रयोजनभूत निश्चय-व्यवहारनय**

वस्तुतः तो निश्चयनय एक ही है; परन्तु प्रयोजनवश इसके दो भेद ही किये हैं। एक - शुद्धनिश्चयनय, दूसरा - अशुद्धनिश्चयनय। पुनः शुद्ध

निश्चयनय के तीन भेद हैं।

१. परमशुद्धनिश्चयनय, २. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय, ३. एकदेशशुद्ध निश्चयनय। इसप्रकार निश्चयनय के निम्नांकित चार भेद हो गये।

(क) परमशुद्धनिश्चयनय - इसका विषय पर व पर्याय से रहित अभेद अखण्ड नित्य वस्तु है। अतः इसका कोई भेद नहीं होता। इस नय की विषय वस्तु ही दृष्टि का विषय है, श्रद्धा का श्रद्धेय है।

(ख) साक्षात्शुद्धनिश्चयनय - यह नय आत्मा को क्षायिक भावों से, (केवलज्ञानादि से) सहित बताता है। ध्यान रहे, इस दूसरे भेद का एक नाम शुद्धनिश्चयनय भी है, जो मूलनय के नाम से मिलता-जुलता है, अतः अर्थ समझने में सावधानी रखें।

(ग) एकदेशशुद्धनिश्चयनय - इस नय से मतिश्रुतज्ञानादिपर्यायों को जीव का कहा है। जैसे - मतिज्ञानी जीव, श्रुतज्ञानी जीव।

(घ) अशुद्धनिश्चयनय - यह नय आत्मा को रागादि विकारीभावों से सहित होने से रागी-द्वेषी-क्रोधी आदि कहता है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि कहीं-कहीं शुद्धनिश्चयनय के तीनों भेदों का प्रयोग समुदायरूप में भी हुआ है। परमशुद्धनिश्चय के अलावा तीनों का व्यवहारनय के रूप में भी प्रयोग किया है। अतः अर्थ समझने में सावधानी की जरूरत है।

व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में, गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायवान में भेद करके तथा देह व जीव आदि दो भिन्न द्रव्यों में अभेद करके वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है।

**व्यवहारनय के भी मूलतः चार भेद हैं :-**

१. उपचरित असद्भूत व्यवहारनय - इस नय से संप्लेश सम्बन्धरहित परद्रव्य स्त्री-पुत्र, परिवार एवं धनादि को अपना कहा जाता है। इसे न मानने से स्वस्त्री-परस्त्री का विवेक नहीं रहेगा, निजघर-परघर, निजधन-परायाधन आदि का व्यवहार संभव न होने से नैतिकता का

हास होगा। लोक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

२. अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय – इस नय से संश्लेष सम्बन्ध सहित देह को ही जीव कहा जाता है, जिसे न मानने से द्रव्यहिंसा से बचाव नहीं हो सकेगा अर्थात् राख (भस्म) मसलना और पंचेन्द्रिय जीव का गला दबाना एक समान हो जायेगा।

३. उपचरित सद्भूत व्यवहारनय – यह नय विकार एवं गुण-गुणी में भेद करके उन्हें जीव कहता है। जैसे – राग का कर्ता जीव, क्रोध का कर्ता जीव। इसे न मानें तो संसारी व सिद्ध में भेद नहीं रहने से चरणानुयोग व करणानुयोग के विषय का क्या होगा?

४. अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय – पर्याय-पर्यायवान गुण-गुणी में भेद करना। जैसे – आत्मा में केवलज्ञान आदि अनन्त गुण एवं शक्तियाँ हैं। इसे न मानने से स्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होगा।

अब इस विषय को यहीं विराम देकर – धर्म के विविध स्वरूप एवं भेद-प्रभेद की चर्चा करते हैं।

जिनागम में निश्चयधर्म-व्यवहारधर्म, श्रावकधर्म-मुनिधर्म, रत्नत्रयधर्म, दयाधर्म, अहिंसाधर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षणधर्म इत्यादि अनेक प्रकार से धर्म के स्वरूप को समझाया गया है। इन सब विविध रूपों का मूलभाव एक वीतरागता ही है। कहा भी है –

**धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।**

**रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥**

“वस्तु का स्वभाव धर्म है; दश प्रकार के क्षमादिभाव भी धर्म हैं। रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।”<sup>२</sup>

आचार्य पूज्यपाद कहते हैं – “जो इष्ट स्थान (मोक्ष) में पहुँचाता है, उसे धर्म कहते हैं।”<sup>३</sup>

“निज शुद्धभाव का नाम ही धर्म है। यह धर्म संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है।”

निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा की जो रक्षा करे वह विशुद्ध-

ज्ञान-दर्शनलक्षणवाला निजशुद्धात्मा की भावनारूप धर्म है।

जहाँ एक ओर आ. कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड़ में “धम्मो दयाविसुद्धो। धर्म दया करके विशुद्ध होता है ऐसा कहा है, वहीं प्रवचनसार में “चारित्तं खलु धम्मो अर्थात् चारित्र ही निश्चय से धर्म है” – ऐसा कहा है।<sup>४</sup>

निश्चयनय से वत्थु सहावो धम्मो अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है यह कहा है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना इसका अर्थ है; इसलिए धर्म से परिणत आत्मा धर्म ही है। मूलगाथा का भावार्थ इसप्रकार है –

“चारित्र ही धर्म है। वह धर्म साम्यभावरूप है और मोह एवं राग-द्वेष रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव है।”<sup>५</sup>

“रागादि दोषों से रहित एवं शुद्धात्मा की अनुभूति सहित निश्चयधर्म होता है।”<sup>६</sup>

“रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में लीन होना धर्म है।”<sup>७</sup>

भावपाहुड़ गाथा ८३ में भी कहा है कि – “मोह व क्षोभरहित अर्थात् राग-द्वेष व योगों रहित आत्मा का परिणाम धर्म है।”

ऐसे निश्चय धर्म को प्राप्त करने के लिए जिस श्रावक-मुनि के आचरण को जीवन में अपनाया जाता है, वह निश्चय का साधन व्यवहार धर्म है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार धर्म की संक्षिप्त चर्चा के बाद इन्हीं के बारे में विशेष समझाते हैं।

सम्यक्त्वपूर्वक किये गये व्यवहारधर्म से परम्परा मोक्ष प्राप्त होता है।<sup>८</sup>

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि विविध विवक्षाओं से प्रतिपादित धर्म अनेक नहीं हैं, बल्कि धर्म तो एक वीतरागभावरूप ही है। धर्म के प्रतिपादन की विवक्षाएँ अनेक हैं।

इसप्रकार जिनागम में धर्म की प्ररूपणा मुख्यतः चार प्रकार से है –

(१) वस्तुस्वभावरूप धर्म (२) उत्तमक्षमादिक दशलक्षण धर्म, (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और (४) जीवरक्षारूप दया धर्म।

जिनागम में सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा गया है। जिसप्रकार वृक्ष का मूल उसकी जड़ है, जड़ के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता सम्भव नहीं है, उसीतरह सम्यग्दर्शनरूपी जड़ के बिना धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता सम्भव नहीं है।

सम्यग्दर्शन के बिना उग्र से उग्र तप आदि की धार्मिक क्रियाएँ एवं दया, दान आदि के शुभभाव भी अनन्त कष्टों का निवारण करने में असमर्थ हैं।

आत्मस्वभाव की यथावत् प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्मों का मूल है। अतः पहले वस्तुस्वभाव की प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करना अति आवश्यक है।

### निश्चय से शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम ही धर्म

यदि वहाँ निश्चय से विचार किया जाए तो उक्त चारों प्रकारों में शुद्ध चेतनारूप धर्म एक ही प्रकार का है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

(१) वस्तुस्वभावरूप धर्म - दर्शन-ज्ञान चेतना जीववस्तु का स्वभाव है। उस दर्शन-ज्ञान-चेतना का परिणाम शुद्ध चेतनारूप परिणमित होना ही धर्म है। इसप्रकार 'वस्तु का स्वभाव धर्म' - ऐसा कहने से शुद्धचेतनारूप धर्म ही प्रसिद्ध होता है; क्योंकि यही जीव का स्वभाव है। जीव की जो दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति की शुभ वृत्तियाँ अथवा हिंसादि की अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब जीव का स्वभाव नहीं होने से इन्हें अधर्म कहा है। देहादि जड़ की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता, किन्तु शुभपरिणाम भी पुण्य बंध का कारण है, वीतरागतरारूप धर्म नहीं। वस्तुतः धर्म तो शुद्धचेतनामय ही है इसकारण शुभाशुभरूप विकारी भावों का होना अधर्म है। "मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञाता-दृष्टापना ही मेरा स्वरूप है" - ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञान-दर्शनमय चेतना की शुद्धपर्याय को धर्म कहा गया है।

जितने अंश में चेतना निर्विकाररूप से परिणमित होती है, उतने अंश

में धर्म है और जितने अंश में पुण्य-पाप के विकाररूप परिणमित होती है, उतना अधर्म है। "देह की क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता-दृष्टापना ही मेरा वास्तविक स्वरूप है" - ऐसा जाननेवाले ज्ञानी के भी निचली दशा में पुण्य-पाप के परिणाम होते अवश्य हैं, किन्तु वे ऐसा जानते हैं कि पुण्य-पाप के विकार से रहित शुद्धचेतना परिणति में जितनी स्थिरता हो उतना ही धर्म है।

(२) उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म - आत्मा क्रोधादि कषायरूप परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहे, यही उत्तम क्षमादिरूप धर्म है; इसप्रकार उत्तम क्षमादिरूप धर्म कहने से भी शुद्धचेतना के परिणामरूप धर्म ही सिद्ध होता है; क्योंकि उसमें शुद्ध चेतना के परिणामों को पुण्य-पाप से छुड़ाकर ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर करना कहा है। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, मेरे ज्ञान में कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है, मेरे ज्ञान स्वभाव में मेरा कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है, दुर्जन या सज्जन नहीं है - ऐसे भानपूर्वक स्वरूप की स्थिरता हो, तभी उत्तम क्षमा हो सकती है।

(३) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म - दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी शुद्धचेतनारूप धर्म ही सिद्ध होता है; क्योंकि शुद्धज्ञान-चेतना में पुण्य-पाप नहीं हैं, शरीरादि की क्रिया नहीं है, मात्र शुद्धस्वभाव है और वही मूल धर्म है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहने से भी शुद्धचेतन्यत्व ही सिद्ध हुआ।

(४) जीवदयारूप धर्म - दया दो प्रकार की है - १. स्व-दया, २. पर-दया। 'जीवदया' के नाम से लोग पर-दयारूप शुभराग में ही धर्म मान रहे हैं। वे स्व-दया के यथार्थस्वरूप को नहीं समझते। क्रोधादि कषायों के वश होकर आत्मा में रागादि की उत्पत्ति रूप हिंसा न करना ही वास्तविक स्व जीवदया है। इस अपेक्षा सबसे महान हिंसा मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कभी भी यह स्व-हिंसा नहीं रुक सकती।

स्व-जीव की हिंसा न करना ही मुख्य स्व-जीवदया है। रागादिभावों

से जब क्रोध का अभाव होने के कारण परजीव को मारने का भाव भी नहीं आया तो इसमें परजीव की दया भी आ गयी; किन्तु स्व-जीव की दया आत्मा की पहचान रूप सम्यग्दर्शन के बिना संभव नहीं है। जो जीव पुण्यरूप शुभराग में धर्म मानता है, वह विकारभाव के द्वारा स्वभाव की हिंसा करता है। 'मेरा शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप रहित है' - ऐसी पहिचान करने के पश्चात् ही स्व-दया हो सकती है। जब वस्तुतः स्वरूप में स्थिर हो और शुद्ध ज्ञान-चेतना के अनुभव में लीन हो, तभी स्व-जीवदया रूप धर्म होता है। इसलिए इसमें भी चेतना का शुद्धपरिणाम ही धर्म है - ऐसा आश्रम में आया है।

कोई भी व्यक्ति वास्तव में पर-जीव को न तो मार ही सकता है, न जीवित ही कर सकता है; अतः रागादि भाव करके स्वयं को दुःखी न करना ही यथार्थ स्व-दया है। अशुभपरिणामों के समय स्वयं तीव्र दुःखी होता है और दयादि के शुभपरिणामों के समय भी जीव आकुलता का ही वेदन होने से दुःखी रहता है, इसलिए अशुभ और शुभ दोनों भावों से स्वयं को बचाना ही वास्तविक स्व जीवदया है।

जो जीव शुद्ध ज्ञानचेतना द्वारा स्वरूप में एकाग्र हुआ, उस जीव के अशुभभाव होते ही नहीं, इसलिए वहाँ स्वयं ही परजीव की दया का पालन होता है। यदि परजीव की दया पालन करने के शुभराग में धर्म हो तो सिद्धदशा में जहाँ पर की रक्षा रूप दया भाव है ही नहीं तो वहाँ सब जीवों के अहिंसा धर्म का अस्तित्व कैसे संभव होगा! इससे सिद्ध होता है कि शुभराग धर्म नहीं है; वास्तविक वीतराग भाव रूप धर्म का सम्बन्ध तो त्रिकाल स्वयं के साथ ही होता है।

जो व्यक्ति निश्चय सम्यग्दर्शन के विषयभूत आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान से सुपरिचित नहीं है, जिन्हें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप की भी पहचान नहीं है, जो सर्वज्ञता के व्यापक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। मात्र बाह्य क्रियाओं के निर्वाह में धर्म समझकर संतुष्ट रहते हैं और 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ'

- ऐसा गर्व से कहते हैं उनके बारे में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है।

“मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता, ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है - ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें, तथापि वे पापी ही हैं; क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्वरहित हैं।” मूल कलश इसप्रकार हैं।

**सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-**

**दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।**

**आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा**

**आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥**

उपसंहार करते हुए आचार्यश्री ने कहा - आज निश्चय-व्यवहारनयों के माध्यम से आगम में वर्णित धर्म के विविध स्वरूपों की संक्षिप्त चर्चा हुई। प्रवचनों के द्वारा तो मात्र चेतना को जागृत ही किया जा सकता है, जिज्ञासा ही उत्पन्न की जा सकती है। गहराई से धर्म को समझने के लिए तो पूर्वकथित स्वाध्याय के चारों अंगों को अपनाना होगा।

प्रथम वांचना, फिर पूँछना, तत्पश्चात् अनुप्रेक्षा अर्थात् बारम्बार विचार करना, तदनन्तर आमनाय अर्थात् चिन्हित विषय का पाठ करना। अन्त में धर्मोपदेश द्वारा दूसरों को समझाने से अपना भी स्वाध्याय होता है, जिससे अपने तत्त्वज्ञान का परिमार्जन होता है। अतः विधिवत एवं नियमित स्वाध्याय अवश्य करें।

ॐ नमः।

१. अनागार धर्माभूत प्र.अ. पृष्ठ १८

३. सर्वाथसिद्धि ९/२

५. बोधपाहुड़, गाथा-२५

७. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति गाथा-८५

९. परमात्मप्रकाश २/३

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७६

४. परमात्मप्रकाश २/६८

६. प्रवचनसार गाथा-७-८

८. भावपाहुड़, गाथा-८५



श्रोताओं की जिज्ञासा को देखते हुए आचार्यश्री ने आज का प्रवचन बारह भावनाओं पर करने का मन बनाया। प्रवचन प्रारंभ करते हुए आचार्यश्री ने कहा - “वैराग्य जननी ये बारह भावनायें साधुओं के उत्तरगुणों के रूप में तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, मुनिराज तो प्रतिदिन इनके माध्यम से संसार, शरीर और भोगों की अनित्यता, अशरणता एवं असारता का चिन्तन कर अपने वैराग्य का पोषण करते हुए आत्म तत्त्व की नित्यता, शरणभूतता और सारभूतपने के चिन्तन से स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करते ही हैं, श्रावकों के लिए भी ये भावनायें संसार, शरीर और भोगों से उदास कराने में, वैराग्य बढ़ाने में निमित्त बनती हैं। जिसतरह अग्नि को प्रज्वलित करने में पवन निमित्त बनती है, उसी तरह बारह भावनाओं का चिन्तन-मनन वैराग्य के बढ़ाने में निमित्त बनता है।

छहढाला की पाँचवीं ढाल का स्मरण दिलाते हुए आचार्यश्री ने कहा - “देखो, कवि दौलतराम कहते हैं -

इन चिन्तत समसुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागे।

इन बारह भावनाओं का चिन्तन करने से ऐसा समता सुख जागृत हो जाता है जैसे हवा लगने से अग्नि दहकने लगती है।”

यहाँ कवि तो यह कह रहे हैं कि बारह भावनाओं के चिन्तन से सुख प्रगट होता है और अज्ञानी की हालत यह है कि इन्हें पढ़ते ही वह रोने लगता है।

आचार्यश्री ने आगे कहा - एक वयोवृद्ध ब्र. धर्मचन्द थे। वे जब भी १२ भावनाओं का पाठ करते तो मुश्किल से प्रारंभ की दो-तीन भावनायें पढ़ते ही आँसू बहाने लगते, भावुक हो उठते, गला रुँध जाता, आगे पढ़ ही नहीं पाते।

मैंने उन्हें ऐसा करते अनेक बार देखा - एक दिन मैंने उनसे पूछा - भाई! आप १२ भावना पढ़ते-पढ़ते रो पड़ते हो! ऐसा क्यों? ये बारह भावनायें तो आनन्द जननी हैं, वैराग्य वर्द्धनी हैं, इनमें रोने का क्या काम?

वे बोले - “रोयें नहीं तो क्या करें। इन भावनाओं में तो साफ-साफ लिखा है कि - “मरना सबको एक दिन” और “मरतें न बचावे कोई” यह सोचते ही तो रोना आ जाता है।

तब मैंने कहा - “इन्हीं बारह भावनाओं में यह भी तो लिखा है - “इन चिन्तन समसुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागे” ये क्यों नहीं पढ़ते? और भी देखो - क्या-क्या लिखा है -

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

**द्रव्यरूप कर सर्वथिर, पर्यय थिर है कौन ?**

**द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्ययनय करि गौण।।”**

वे बोले - “ये भावनायें तो निश्चय वालों की हैं और हम इनका अर्थ भी तो नहीं समझते। यह द्रव्य क्या है? पर्याय क्या है? और द्रव्यदृष्टि क्या है? स्वयं को कैसे देखें? हमने तो जिन्दगी भर वही ‘राजा राणा’ वाली बारह भावना ही पढ़ी है, उसे पढ़ते हैं तो रोना आ ही जाता है। क्या ऐसे रोने से कर्मों की निर्जरा नहीं होगी?

उन ब्रह्मचारी बाबा की बातें सुनकर उनकी अज्ञानता और भोलेपन पर हमें मन ही मन हँसी तो बहुत आई, साथ में उन पर करुणा भी आई। अतः हमने गंभीर होकर कहा - “भाई! तुम एक बार आचार्यों की लिखी बारह भावनाओं को पढ़ो! और देखो! ये भावनायें कैसी सुखद हैं, वैराग्यवर्द्धक हैं। रोना तो आर्तध्यान हैं ऐसे रोने से निर्जरा नहीं, पापास्रव होता है, जबकि १२ भावनाओं को समझ कर पढ़ने से कर्मों का संवर होता है। और हाँ, सुनो! तुम्हारी आयु अब अधिक नहीं है, पचत्तर तो पार कर ही चुके हो। अतः इस निश्चय-व्यवहार की पार्टियों के झमेले में न पड़ो। सत्य बात को समझने की कोशिश करो। क्या बारह भावना भी निश्चय व्यवहार वालों की अलग-अलग हैं।



जब ब्रह्मचारी बाबा को यह समझ में आया तो वे फिर रोने लगे। हमने पूछा—“अब क्यों रोते हो?” तो वे बोले - महाराजजी! हम अब इसलिए रोते हैं कि - “हमने अब तक इन पार्टियों के चक्कर में अपना मनुष्यभव खराब कर लिया है। सत्य समझने की कोशिश ही नहीं की - अब मरघट जाने का समय आया तब आपकी बात कुछ-कुछ समझ में आई। सो अब समझने का समय नहीं रहा, शक्ति नहीं रही। अब क्या करें?”

आचार्य श्री ने कहा कि - “हमने बाबाजी को आश्वासन दिया और कहा कि घबराओ मत ‘जब जाग जाओ तभी है सबेरा’ अतः भूत को भूल जाओ, वर्तमान को संभालो भविष्य स्वयं संभल जायेगा।”

ब्रह्मचारी धर्मचन्द का उदाहरण देकर जब आचार्य श्री ने श्रोताओं को जाग्रत होने की प्रेरणा दी तो अधिकांश श्रोताओं ने संकल्प किया कि “अब जो भी स्वाध्याय करेंगे, उसे भलीभाँति समझ-समझकर ही करेंगे तथा तदनुसार ही आचरण भी करेंगे। सुनेंगे सबकी; पर करेंगे वही जो आगम सम्मत होगा, वीतरागता पोषक एवं वैराग्यवर्द्धक होगा।”

आचार्यश्री ने कहा - “बाजार में तो असली-नकली सब तरह के सिक्के चलते हैं, वहाँ तो हम इतना विवेक रखते हैं कि बाजार में चलें तो चलने दो, बाजार में चलते नकली सिक्कों को रोकना हमारा काम नहीं, वह जिम्मेदारी सरकार की है, हमें तो इतना ध्यान रखना है कि - वे नकली सिक्के हमारी जेब में नहीं आना चाहिए। यदि हमारी जेब में पकड़े जायेंगे तो हमें जेल होगी। इसीतरह जिनवाणी के नाम पर यदि कोई जनवाणी चलाता है तो चलने दो, वीतराग धर्म के नाम पर पाप-पुण्य रूप राग चलाना चाहता है तो चलाने दो, पर ध्यान रखो वह रागवर्द्धक पाप-पुण्य का सिक्का तुम्हारी श्रद्धारूपी जेब में नहीं आना चाहिए। अन्यथा भव्य होने पर भी मारीचि की भाँति एक कोड़ाकोड़ी सागर तक संसार में जन्म-मरण करना होगा। हाँ, तो सुनो!

कविवर भागचन्दजी ने एक ही छन्द में बारह भावनाओं को कितने अच्छे ढंग से लिखा है। वे कहते हैं -

जग है अनित्य<sup>१</sup> तामें सरन<sup>२</sup> न वस्तु कोय ।  
तातें दुःखरासि भववास<sup>३</sup> काँ निहारिए ॥  
एक<sup>४</sup> चित्त चिह्न सदा भिन्न<sup>५</sup> परद्रव्यनि तैं ।  
अशुचि<sup>६</sup> शरीर में न आपाबुद्धि धारिए ॥  
रागादिकभाव<sup>७</sup> करै कर्म को बढ़ावै तातैं ।  
संवर<sup>८</sup> स्वरूप होय कर्मबन्ध डारिए<sup>९</sup> ॥  
तीन लोक<sup>१०</sup> माँहि जिन धर्म एक दुर्लभ<sup>११</sup> है ।  
तातें जिन धर्म<sup>१२</sup> को न छिनहू विसारिए ॥<sup>१३</sup>

उपर्युक्त छन्द को मधुर कंठ से बोलते हुए आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में कहा - “देखो अध्यात्मरसिक कवि भागचंदजी ने १२ भावनाओं को एक ही छन्द में संक्षेप में कैसे सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं कि -

“संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का तथा वस्तु स्वरूप को पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना अनुप्रेक्षा है। मोक्षमार्ग में वैराग्य की वृद्धि के अर्थ बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का कथन जिनागम में प्रसिद्ध है, इन्हें वैराग्यमयी बारह भावनाएँ कहते हैं; इनके भाने से व्यक्ति शरीर व भोगों से उदासीन होकर साम्यभाव में स्थिति पा सकता है।<sup>१४</sup>”

“शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। अर्थात् शरीरादिक के स्वभाव का पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।<sup>१५</sup>”

“कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्णरूप से हृदयङ्गम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षा है।<sup>१६</sup>”

“अपना और शरीरादि का जहाँ-जैसा स्वभाव है, वैसा पहिचानकर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर, राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करने रूप सच्ची उदासीनता के लिए यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिन्तन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।<sup>१७</sup>”

“इन बारह भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है, राग गल जाता है, अन्धकार विलीन हो जाता है और हृदय में ज्ञानरूपी दीपक विकसित हो जाता है।<sup>१८</sup>”

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने से संसार, शरीर, भोगों से उदासीनभावरूप वैराग्य की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। स्वरूप-स्थिरता का पुरुषार्थ और संवरपूर्वक निर्जरा एवं मोक्ष की ओर प्रयाण होता है।

आस्रव भावना में दुःखद आस्रवों का विचार करने से संवर और निर्जरा का सम्यक् पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

बोधिदुर्लभ भावना में रत्नत्रय की दुर्लभता का चिन्तन करने से प्राप्त अवसर को न गँवाने की भावना उत्पन्न होती है।

लोक भावना में लोक के स्वरूप तथा उसमें परिभ्रमण के दुःखों का चिन्तन करने से निज चैतन्य लोक में निवास की प्रेरणा मिलती है।

इत्यादि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति इन वैराग्यवर्द्धिनी भावनाओं के चिन्तन से होती है तथा यह चिन्तन वीतरागता की उपलब्धि में सहायक होता है।

“जो भव्य जीव अनादिकाल से आज तक मोक्ष गये हैं; और जो आगे मुक्त होंगे वे सब इन्हीं भावनाओं का चिन्तन करके ही हुए हैं और आगे होंगे।<sup>१९</sup>”

“जो धर्मध्यान में प्रवृत्ति करता है, उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप हैं; अनुप्रेक्षा के बल पर ध्याता धर्मध्यान में स्थिर रहता है।<sup>२०</sup>”

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से संसार, शरीर और भोगों की अशरणता असारता आदि का चिन्तन कर वैराग्य को दृढ़ किया जाता है। यद्यपि मुनिराज की भूमि वैराग्य से भीगी होती है, तथापि उनके जीवन में भी वैराग्य की अत्यधिक अभिवृद्धि हेतु वैराग्यजननी बारह भावनाओं का चिन्तन आवश्यक होता है।

छहढालाकार पण्डित दौलतरामजी के शब्दों में कहें तो -

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगन तें वैरागी ।  
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई ॥

वे महाव्रतों को धारण करने वाले मुनिराज बड़े भाग्यवान हैं, जो भवभोगों से विरक्त हैं तथा वैराग्य को पुष्ट करने के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

स्वामी कार्तिकेय के शब्दों में ‘भवियजणाणंद जणणीयो’ अर्थात् बारह भावनाएँ भव्यजीवों के लिए आनन्दजननी हैं।<sup>२१</sup>”

अनुप्रेक्षा को भावना कहने का कारण यह कि - अनुप्रेक्षा का अर्थ होता है बारम्बार चिन्तन करना। किसी भी विषय की गहराई में जाने के लिए उसके स्वरूप का बारम्बार विचार करना होता है। अतः अनुप्रेक्षा को भावना शब्द से भी कहा जाता है। उक्त अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन बारह प्रकार का होने से ये बारह भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन मात्र मुनिराज ही नहीं, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक एवं अविरत सम्यग्दृष्टि भी करते हैं।

मुनिराज का जीवन तो वैराग्यमय होता ही है। अतः वे तो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि होते हैं; उनके जीवन में तो इन भावनाओं का चिन्तन एवं उसका फल प्रगट भी हो ही जाता है, फिर भी वैराग्यभाव की विशेष वृद्धि के लिए वे इनका चिन्तन करते हैं। सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक भी अपने वैराग्यभाव की वृद्धि के लिए इन वैराग्यमय भावनाओं का चिन्तन करते हैं। प्रथमानुयोग के उल्लेख इस बात के साक्षी हैं किसी भी तीर्थकर गृहस्थदशा का परित्याग कर मुनिधर्म अंगीकार करते हैं, और इन बारह-भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

यद्यपि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को भी इनके चिन्तन का निषेध नहीं है, तथापि उसे वस्तुस्वरूप का सम्यक् बोध न होने से, उसके चिन्तन में समीचीनता नहीं होती। वह शरीरादि की अनित्यता, अशरणता आदि के चिन्तन से उनके प्रति समभाव न लाकर देह और भोगों की क्षणभंगुरता से भयभीत होकर दुःखी हो जाते हैं। अतः उसे सर्वप्रथम आगम के आधार पर सत्य वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि इन बारह भावनाओं का वर्णन संवर के कारणों के अन्तर्गत आया है और मिथ्यादृष्टि को संवर होता नहीं है; अतः उसके सच्ची बारह भावनाएँ नहीं होती हैं। हाँ, वह वस्तुस्वरूप के निर्णय पूर्वक इनके चिन्तन से अपने चित्त में वैराग्यमय कोमल परिणामों के द्वारा आत्मानुभव का पुरुषार्थ करे तो उसके चिन्तन को निष्फल नहीं कहा जा सकता।

“बारह भावनाओं के चिन्तन में भेदविज्ञान भी निहित है। बारह भावनाओं के क्रम में भेदविज्ञान का क्रमिक विकास भी दृष्टिगोचर होता है। यदि आरम्भ की छह भावनाएँ परसंयोगों की अस्थिरता, पृथक्ता एवं मलिनता का सन्देश देकर अनादिकालीन परोन्मुखता समाप्त कर, अन्तरोन्मुख होने के लिए प्रेरित करती हैं तो सातवीं आस्रवभावना संयोगाधीन दृष्टि से उत्पन्न होनेवाली संयोगी विकारों से विरक्ति उत्पन्न करती हैं तथा संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म भावनाएँ उस निज शुद्धात्मतत्त्व के प्रति समर्पित होने का मार्ग प्रशस्त करती हैं, जिसके आश्रय से रत्नत्रयरूप संवरादि निर्मल पर्यायें उत्पन्न होती हैं।<sup>२२</sup>”

अनुप्रेक्षा के पहले सम्यग्दर्शन होना जरूरी है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सच्ची अनुप्रेक्षा नहीं हो सकती। सम्यग्दृष्टि जीव को ही आत्मस्वभाव के अनुभवपूर्वक वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय होता है; इसलिए शरीरादि की अनित्यता, अशरणता अथवा अपवित्रता का चिन्तन उसे समताभाव का उत्पादक होता है एवं आत्मस्वभाव की दृष्टिपूर्वक वैराग्यभावमय वीतरागपरिणति की अभिवृद्धि होती है।

आचार्य पूज्यपाद ने तो यहाँ तक कहा है - “तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक आत्यन्तिक मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।<sup>२३</sup>”

अज्ञानी जीव अनुप्रेक्षा के सम्बन्ध में यह भूल करता है कि वह देह की एवं संयोगों की अनित्यता आदि के चिन्तन से शरीरादिक को बुरा जान, हितकारी न जानकर उनसे उदास होने को अनुप्रेक्षा कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण

देखकर उदासीन हुआ; उसीप्रकार पहले शरीरादिक से राग था, पश्चात् अनित्यादि अवगुण अवलोककर उदासीन हुआ, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है।<sup>२४</sup>

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन सर्वथा शुभभावात्मक ही नहीं है। निश्चयनय से अनुप्रेक्षा शुद्धोपयोग और व्यवहारनय से शुभोपयोगात्मक है।

रणसार गाथा ६४ में ऐसा कहा है - “बारह अनुप्रेक्षायें बन्ध-मोक्ष के कारण स्वरूप हैं।” तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय से अनुप्रेक्षा शुभभावात्मक होने से पुण्यबन्ध की कारण है तथा निश्चयनय से अनुप्रेक्षा शुद्धभावस्वरूप होने से मोक्ष की कारण है।

समयसार की ३२० गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने शुद्धोपयोग को भी भावनारूप स्वीकार किया है।

अनुप्रेक्षा के इन बारह भेदों में यह रहस्य निहित है कि संसारी जीव के मुख्यरूप से स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर आदि का ही संयोग है; इनमें सर्वाधिक नजदीक का संयोगी पदार्थ शरीर है। अनित्यभावना में इनकी अनित्यता, अशरणभावना में इनकी अशरणता तथा संसारभावना में इनकी दुःखरूपता व निःसारता का चिन्तन किया जाता है। स्वयं में एकत्व और संयोगों से भिन्नत्व का विचार क्रमशः एकत्व और अन्यत्वभावना में होता है। संयोगों (शरीर आदि) की मलिनता, अपवित्रता का चिन्तन ही अशुचिभावना है।

उक्त भावनाओं के चिन्तन का विषय यद्यपि संयोग ही है; तथापि चिन्तन की धारा का स्वरूप इस प्रकार है के संयोगों से विरक्ति हो, अनुरक्ति नहीं। अतः ये छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्योत्पादक हैं।

आस्रव, संवर और निर्जरा तो स्पष्टरूप से तत्त्वों के नाम हैं; अतः इनका चिन्तन सहज ही तत्त्वपरक होता है। बोधिदुर्लभ और धर्मभावना में भी रत्नत्रयादि धर्मों की चर्चा होने से इनका चिन्तन भी तत्त्वपरक ही है। लोकभावना में लोक की रचना सम्बन्धी विस्तार को गौण करके यदि

उसके स्वरूप पर विचार किया जाये तो उसका चिन्तन भी निश्चितरूप से तत्त्वपरक ही है।

इस प्रकार आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक एवं अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं; परन्तु इसे नियम के रूप में देखना ठीक न होगा; क्योंकि यह कथन मुख्यता और गौणता की अपेक्षा से ही है।

वैराग्योत्पादक चिन्तन से भावभूमि तरल हो जाने पर, उसमें बोया हुआ तत्त्वचिन्तन का बीज निरर्थक नहीं जाता; उगता है, बढ़ता है, फलता भी है और अन्त में पूर्णता को भी प्राप्त होता है। कठोर-शुष्क भूमि में बोया गया बीज नाश को ही प्राप्त होता है, अतः बीज बोने के पहले जमीन को जोतने एवं सींचने के श्रम को निरर्थक नहीं माना जा सकता। आरम्भ की छह भावनाएँ मुख्यरूप से भावभूमि को जोतने एवं वैराग्यरस से सींचने का ही काम करती हैं; जो कि आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है; क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्तसुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है।<sup>२५</sup>

स्वभाव की नित्यता के चिन्तनपूर्वक, पर्याय को गौण करके नित्य द्रव्यस्वभाव का अनुभव या स्वसंवेदन करना ही संवर के कारणरूप अनित्यानुप्रेक्षा है। नित्यता अथवा अनित्यता का चिन्तन तो विकल्पात्मक शुभभावरूप होने से पुण्यबन्ध का ही कारण है।

यद्यपि अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का विकल्पात्मक चिन्तन शुभभावरूप होने से पुण्यबन्ध का कारण है तथापि तत्त्वार्थसूत्र में इन अनुप्रेक्षाओं का वर्णन जो संवर के कारणों में किया गया है, उसका कारण यह है कि - शुभभावरूप विकल्पात्मक चिन्तन होता है। उसी समय मुनिराज के तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति अथवा इस चिन्तन के अभावपूर्वक शुद्धोपयोग होता है, वस्तुतः वही वास्तविक अनुप्रेक्षा है और वह संवर का कारण है।

जिस प्रकार अभ्यन्तर वीतरागपरिणति को निश्चयमोक्षमार्ग एवं उस भूमिका में वर्तनेवाले शुभराग को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है; उसी प्रकार अनुप्रेक्षा के सन्दर्भ में भी समझ लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक में समागत निम्न कथन का सदैव स्मरण रखना चाहिए - “बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।<sup>२६</sup>”

शुद्धनिश्चयनय से आत्मा का स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तन करना चाहिए कि - “यह आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पों से रहित है अर्थात् शुद्धात्मा में देवादिक भेद नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहनेवाला है।<sup>२७</sup> अभी समय हो गया है। अगले प्रवचन में इन्हें ही विस्तार से कहेंगे। ॐ नमः।

आज के प्रवचन ने श्रोताओं को झकझोर दिया था, उनके हृदयों को हिला दिया था। बारह भावनाओं के स्वरूप और चिन्तन प्रक्रिया को श्रोताओं ने इस दृष्टिकोण से पहली बार ही सुना था। अभी तक बारह भावनायें रोते-रोते उदास मन से ही पढ़ी-सुनी जाती थीं। ‘इक चिन्तन समसुख जायें’ यह भी पढ़ते तो थे, पर वह समसुख क्या है? इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया।

सभी श्रोता अगले प्रवचन की उत्सुकता मन में संजोये अपने-अपने घर को प्रस्थान कर गये? ●

१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव
८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ, १२. धर्म। १३. कवि श्री भागचन्द्र
१४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१/७१,
१५. सर्वार्थसिद्धि, ९/७,
१६. धवला ९/४, १, ५५/२६३/९
१७. मोक्षमार्गप्रकाशक, २२९
१८. ज्ञानार्णव भावना अधिकार १९२
१९. बारस अणुवेक्खा, गाथा ८९, ९०
२०. भगवती आराधना, १८७४
२१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-१
२२. बारह भावना : एक अनुशीलन, १५
२३. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/८०३
२४. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९
२५. बारह भावना : एक अनुशीलन, ६-७
२६. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२३३
२७. बारस अणुवेक्खा, गाथा-७



वैराग्य जननी बारह भावनाओं पर सरल सुबोध शैली में हुए पूर्व प्रवचनों को सुनकर श्रोताओं में दिन-प्रतिदिन रुचि और उत्साह बढ़ रहा था। इसकारण श्रोता आज समय के पूर्व ही आ बैठे थे। उपाध्यायश्री पधारे, प्रवचन प्रारंभ करते हुए उन्होंने पूर्व में हुए बारह भावनाओं के विषय को ही आगे बढ़ाते हुए एक-एक भावना का विस्तार से समझाना प्रारंभ किया।

**१. अनित्यानुप्रेक्षा** – का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा – इस भावना में साधक ऐसा विचार करता है कि – “एक आत्मा ही नित्य है, संयोग सब अनित्य हैं। शरीर और शरीर से संबंधित धन, स्त्री, पुत्र आदि सब अनित्य हैं। पानी के बुलबुले की भाँति क्षण भंगुर हैं।” ऐसी भावना के चिन्तन से धन-वैभव, पति-पत्नी, पुत्र-मित्र आदि अनुकूल संयोगों का वियोग होने पर दुःख नहीं होता। वे भोगों को जूठे भोजन के समान त्याग देते हैं तथा अविनाशी निज परमात्मा को भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना द्वारा भाते हैं। इस प्रकार वे जैसी अविनश्वर आत्मा को भाते हैं; वैसी ही अक्षय, अनन्त सुखस्वभाववाली मुक्त आत्मा को वे प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के चिन्तन का नाम अध्रुव भावना है।<sup>१</sup>

**२. अशरणानुप्रेक्षा** – निश्चय से निज शुद्धात्मा की शरणरूपता तथा व्यवहार से पंच परमेष्ठी की शरणरूपता का और संयोगों की अशरणता का चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है। उदाहरणार्थ देखे निम्नांकित छन्द –

“शुद्धात्मअरु पञ्चगुरु, जग में सरनौ दोय ।

मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय ॥

निश्चय से शुद्धात्मा और व्यवहार से पंचपरमेष्ठी शरणभूत हैं। अज्ञानी

जीव मोहवश इनसे अन्य धन, स्त्री, पुत्र, परिवार और राज-पाट को शरण मानकर उनकी शरण खोजते हैं।”<sup>२</sup>

संसार में अपनी आत्मा के सिवाय अपना और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। वह स्वयं ही कर्मों को खिपाकर जन्म, जरा, मरणादि के कष्टों से बच सकता है। आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही परम शरण हैं। संसारमें भ्रमण करते हुए जीवों को दुःख से बचने के लिए इनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं हैं।

निश्चयरत्नत्रय से परिणत शुद्धात्मद्रव्य और उसकी बहिरंग सहकारी कारणभूत पंचपरमेष्ठियों की आराधना – ये दोनों ही शरणभूत हैं; इनसे भिन्न देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा मंत्र-तंत्र और औषध आदि अचेतन पदार्थ शरणभूत नहीं हैं।

अनित्य व अशरण भावना में अन्तर बताते हुए कहा है कि अनित्य भावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्य स्वभाव का चिन्तन होता है और अशरण भावना में उनके ही अशरण स्वभाव का चिन्तन होता है, जिसप्रकार अनित्यस्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, नित्य परिणमन करती है; उसीप्रकार अशरण स्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिए पर की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण की आवश्यकता परतंत्रता की सूचक है, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतंत्र स्वयं अपने लिए ही शरणभूत है।

व्यवहार से अनित्य भावना का केन्द्रबिन्दु है – ‘मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार’ और अशरण भावना का केन्द्रबिन्दु – ‘मरतैं न बचावे कोई’ – यही इन दोनों का मूलभूत अन्तर है।

जिसप्रकार क्षुधित और मांस के लोभी बलवान व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृगशावक के लिए कोई भी शरण नहीं होता; उसीप्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दुःखों के मध्य में परिभ्रमण करनेवाले जीव को कोई भी शरण नहीं है। यत्न से संचित किया हुआ धन भी भवान्तर में

साथ नहीं जाता। सुख-दुःख के मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते। बन्धुजन भी रोगों से घिरे जीव की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। एकमात्र वीतराग धर्म ही शरण है। अन्य कुछ भी शरण नहीं है; इसप्रकार की भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है।

श्रोता विनयपूर्वक पूछता है - अशरणानुप्रेक्षा में पंचपरमेष्ठी एवं धर्म को शरण कहा गया है तो क्या मृत्युकाल आने पर वे इसे बचाते हैं ?

आचार्यश्री ने कहा - “भाई ! पंचपरमेष्ठी अथवा धर्म की शरण का आशय यह नहीं है कि वे मृत्युकाल अथवा रोगादि का अभाव कर देते हैं और न ज्ञानियों द्वारा इस उद्देश्य से उनकी शरण अंगीकार की जाती है। बात इतनी-सी है कि पंचपरमेष्ठी अथवा निज शुद्धात्मा के आश्रय से मृत्युकाल अथवा रोगादि की दशा में होनेवाले आकुलता-व्याकुलतारूप आर्तपरिणाम नहीं होते, यही उनकी शरण का प्रयोजन भी है। मरण अथवा रोगादिरूप अवस्था तो जब, जैसी होनी है, होकर ही रहती है; उसे टालने में तो इन्द्र, अहमिन्द्र और जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।

अशरण भावना का मूल प्रयोजन संयोगों और पर्यायों की अशरणता का ज्ञान कराकर दृष्टि को वहाँ से हटाकर स्वभाव-सन्मुख ले जाना है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए संयोगों और पर्यायों को अशरण बताया जाता है और इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी को शरणभूत या परम शरण बताया जाता है।

निज आत्मा ही शरण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीव की रक्षा करने में समर्थ नहीं है, इसलिए पर से रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। सर्वत्र-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है। आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादि-अनन्त है; ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिन्तन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अशरण भावना है।

३. संसारानुप्रेक्षा - चतुर्गति परिभ्रमणरूप दुःखों के एवं पंच-

परावर्तनरूप संसार के दुःखों के चिन्तन पूर्वक संसार की असारता तथा निज ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का साररूप चिन्तन करना संसार अनुप्रेक्षा है।

छहढाला में कहा है कि -

**चहुँगति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करें हैं।**

**सब विधि संसार असारा, यामे सुख नाहिं लगाया ॥**

बारसाणुवेक्खा गाथा २४ में कहा है कि “यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नहीं देता हुआ जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से भरे हुए पंचपरावर्तन रूप संसार में अनादिकाल से भटक रहा है - ऐसा विचार कर जिनमार्ग में कहे आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

पूज्यपादस्वामी ने जो कहा उसका सार यह है कि - “कर्म-विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। उसका पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप से व्याख्यान होता है। उसमें अनेक योनियों और लाखों-करोड़ों कुलों से व्याप्त उस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयंत्र से प्रेरित होकर स्वयं का ही पिता, भाई, पुत्र और पौत्र हो जाता है; माता, भगिनी, भार्या और पुत्री होता है; स्वामी दास हो जाता है तथा दास स्वामी हो जाता है। जिसप्रकार रंगस्थल में नट नानारूप धारण करता है, उसीप्रकार यह जीव भी नाना योनियों में जन्म-मरण करता है। बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र भी हो जाता है। इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ७३ में कहा है कि ‘हे जीव ! इस संसार का स्वरूप जानकर और सम्यक् व्रत आदि समस्त उपायों से मोह को त्यागकर अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करो, इससे संसार परिभ्रमण का अभाव होता है।

४. एकत्वानुप्रेक्षा - संसार के भयंकर दुःखों को मैं अकेला ही

भोगता हूँ; न कोई मेरा स्व है और न कोई पर है; अकेला ही मैं जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ; मेरा कोई भी स्वजन या परिजन, व्याधि, जरा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं करता; बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। बस ! धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला नित्य सहायक है। इसप्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

समयसार, वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, बारसाणुवेक्खा आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में निश्चय से आत्मा के अनन्त गुणात्मक एकत्व स्वरूप को आधार बनाकर एकत्वभावना का विचार किया गया है, जबकि सर्वार्थसिद्धि, मूलाचारप्रदीप, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में एकत्व भावना के व्यावहारिक पक्ष को प्रगट किया गया है।

निश्चयनपरक एकत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'मैं एक हूँ, ममतारहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूँ, इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय है - ऐसा निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

एकत्वनिश्चय को प्राप्त समय ही लोक में सब जगह सुन्दर है; एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा विसंवाद-विरोध करनेवाली है। इसलिए एक आत्मा का ही आश्रय लेने योग्य है।<sup>३</sup>

**“परमारथ तैं आत्मा, एक रूप ही जोय।**

**मोह निमित्त विकल्प घने, तिन नासे शिव होय ॥**

एकत्व भावना में कहा है कि यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है, अन्य कोई इसका साथी नहीं है।<sup>४</sup>

**“जीव तू भ्रमत सदैव अकेला, संग साथी नहीं कोई तेरा।**

**अपना सुख-दुःख आपहि भुगते, होत कुटुम्ब न भेला।**

**स्वार्थ भयैं सब बिछरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला ॥ जीव तू।**

जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि प्रत्येक स्थिति को जीव अकेला ही भोगता है, किसी भी स्थिति में किसी का साथ सम्भव नहीं है। वस्तु की इसी स्थिति का चिन्तन एकत्व भावना में गहराई से किया जाता है।<sup>५</sup>

एक बात और भी है कि इस दुःखमय संसार में कहने के साथी तो बहुत मिल जायेंगे, पर सगा-साथी-वास्तविक, साथी कोई नहीं होता; क्योंकि वस्तुस्थिति के अनुसार कोई किसी का साथ दे नहीं सकता।

एकत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि 'एकत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन करते हुए इस जीव का स्वजनों में प्रीति का अनुबंध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबंध नहीं होता; इसलिए वह जीव निःसंगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है।'

पूरे प्रयत्न से शरीर से भिन्न एक जीव को जानो। उस जीव को जान लेने पर क्षण-भर में ही शरीर, मित्र, स्त्री, धन, धान्य, वगैरह सभी वस्तुएँ हेय हो जाती हैं।

**५. अन्यत्वानुप्रेक्षा -** शरीरादि बाह्य द्रव्य भी सब अपने से जुड़े हैं और मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है, इसप्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तन करना ही अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

निश्चयनपरक अन्यत्वानुप्रेक्षा का कथन करते हुए कहा है कि शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। बन्ध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं शरीर से अन्य हूँ', शरीर ऐन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए भूतकाल से मैंने लाखों शरीर धारण किये हैं, परन्तु मैं उनसे भिन्न ही हूँ। इसप्रकार शरीर से ही जब मैं अन्य हूँ, तब हे वत्स ! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य है ? इसप्रकार मन का समाधान होने पर शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती।

जो जीव परमार्थ से अपने स्वरूप से देह को भिन्न जानकर आत्मस्वरूप को सेता है, ध्यान करता है, उसके अन्यत्व भावना कार्यकारी है।

मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है ऐसा अज्ञानी जन कहते हैं। इस संसार में जब शरीर ही अपना नहीं, तब पुत्र धनादि कैसे अपने हो सकते हैं ?

कहा भी है -

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय ।  
घर सम्पत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ॥<sup>९</sup>  
तथा -

जल-पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेला ।  
तो प्रकट हुए धन जामा, क्यों द्वै इक मिलि सुतरामा ॥<sup>१०</sup>

इस अन्यत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन यह है कि इसके चिन्तन से शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और वैराग्य की वृद्धि होने पर मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

जो आत्मस्वरूप को यथार्थ में शरीर से भिन्न जानकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है, उसके अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है।

जा तन में नित जिय वसै, सो न आपनो होय ।

तो प्रत्यक्ष जो पर दरब, कैसे अपने होय ॥<sup>११</sup>

अर्थात् जिस शरीर में जीव नित्य रहता है, जब वह शरीर ही अपना नहीं होता, तब जो परद्रव्य प्रत्यक्ष पर है, वे अपने कैसे हो सकते हैं ?

मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ।

निज में पर से अन्यत्य लिये, निज समरस पीनेवाला हूँ ॥<sup>१२</sup>

व्यवहारनयपरक अन्यत्वानुप्रेक्षा में यह कहा है कि माता-पिता, भाई, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश संबंध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई संबंध नहीं है अर्थात् ये सब जीव से जुड़े हैं।

६. अशुचि अनुप्रेक्षा - वैराग्यभाव के उद्देश्य से देह के अपावनस्वरूप के चिन्तनपूर्वक निज स्वभाव की पवित्रता का चिन्तन करना ही अशुचि-अनुप्रेक्षा है। वास्तव में आत्मा देह से जुदा है, कर्मों से रहित है, अनन्त सुखों का घर है, इसलिए शुद्ध है, इसप्रकार निरन्तर भावना करते रहना यह अशुचिभावना का निश्चयपरक चिन्तन है।

जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं -

निर्मल अपनी आत्मा, देह अपावन गेह ।

जानि भव्य निज भाव को, या सो तजो सनेह ॥

जल में सेवाल (काई) है सो मल है या मैल है, उसे सेवाल की भांति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं, इसलिए वे अशुचि हैं-अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक है, इसलिए अत्यन्त शुचि ही है, पवित्र ही है।

व्यवहारनयपरक अशुचि-अनुप्रेक्षा में देह को दुर्गन्धमय, डरावनी, मलमूत्र से भरी, जड़ कहा है और क्षीण होनेवाली तथा विनाशीक स्वभाव वाली कहा है; इसतरह निरन्तर इसका विचार करना व्यवहार अशुचि भावना है।

७. आस्रवानुप्रेक्षा - आस्रवभाव अशुचि हैं, विपरीत हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःख के कारण हैं, दुःखरूप हैं और दुःख फलवाले हैं - ऐसा विचार करना तथा शुभाशुभ आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि है, अविपरीत स्वभाववाला है, ध्रुव है, नित्य है, परमशरणभूत है, सुख का कारण है, सुख स्वरूप है और सुख रूप ही फलवाला है - ऐसा चिन्तन करना ही यथार्थ आस्रवानुप्रेक्षा है।

पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि -

जो योगन की चपलाई, तातैं है आस्रव भाई ।

आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवंत तिन्हें निरवेरे ॥



पाप को पाप तो सारा जगत जानता है; ज्ञानी तो वह है, जो पुण्य को भी पाप जाने। तात्पर्य यह है कि जो पापास्रव के समान पुण्यास्रव को भी हेय मानता है, वही ज्ञानी है। पण्डित जयचन्दजी कहते हैं -

**आतम केवलज्ञानमय, निश्चय दृष्टि निहार।**

**सब विभाव परिणाम मय, आस्रव भाव विडार।।**

व्यवहारनयपरक आस्रवानुप्रेक्षा में साधक यह चिंतन करता है कि कर्मों का आस्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं हो सकता है, इसलिए संसार में भटकानेवाले आस्रव हेय हैं।

आस्रवभाव इस लोक और परलोक में दुःखदायी हैं। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अब्रतरूप हैं। कषाय आदि भी इस लोक में, वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते हैं तथा परलोक में नानाप्रकार के दुःखों से प्रज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इसप्रकार आस्रव के दोषों को चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

भूधरदासजी कृत बारह भावना में कहा कि -

**मोह नींद के जोर, जगवासी घूमे सदा।**

**कर्मचोर चहुँ ओर, सरवस लूटे सुध नहीं।।**

आस्रवभाव दुःख स्वरूप हैं, तथा आस्रवभावना के चिन्तन से आस्रवभाव का अभाव होकर संवर होता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी बारह भावनाओं को संवर का कारण कहा है, अतः आस्रवभावना भी संवर की कारण सिद्ध हुई। वास्तव में आस्रवभावना के अन्तर्गत आस्रव के स्वरूप का अच्छी तरह चिन्तन करके आस्रवभाव के त्याग की भावना भायी जाती है।

जो मुनि साम्यभाव में लीन होता हुआ मोहकर्म के उदय से होनेवाले इन आस्रवभावों को त्यागने के योग्य जानकर उन्हें छोड़ देता है, उसी की आस्रवानुप्रेक्षा सफल है।

जीव जब तक आत्मा और आस्रव - इन दोनों के अन्तर और भेद को नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिक आस्रवों में वर्तता है; क्रोधादिक में प्रवर्तमान उसके कर्म का संचय होता है। वास्तव में इसप्रकार जीव के कर्मों का बंध सर्वज्ञदेवों ने कहा है। जब यह जीव आत्मा का और आस्रवों का अन्तर और भेद जानता है, तब उसे बन्ध नहीं होता।

आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें तो हेय जानता है तथा जो अहिंसादि पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है; परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना ही मिथ्यादृष्टि है।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम आत्मा और आत्मा की ही पर्याय में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप-पुण्य-पापरूप आस्रवभावों की परस्पर भिन्नता भली-भाँति जानें, भली-भाँति पहिचानें तथा आत्मा के उपादेयत्व एवं आस्रवों के हेयत्व का निरन्तर चिन्तन करें, विचार करें; क्योंकि निरन्तर किया हुआ यही चिन्तन, यही विचार आस्रव-भावना है।

ध्यान रहे, उक्त चिन्तन, विचार तो व्यवहार-आस्रव भावना है। निश्चय-आस्रव भावना तो आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान व ध्यानरूप परिणमन है।

८. **संवरानुप्रेक्षा** - आस्रव का विरोध करना संवर है। यह संवर सुखस्वरूप है, सुख का कारण है तथा मोह-राग-द्वेष से विपरीत, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमय है, रत्नत्रयस्वरूप है। मोक्ष का कारण है।

निश्चयगुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र - ये सभी संवर के कारण हैं। इस संवर से नवीन कर्म आने से रुकते हैं। जबकि व्यवहार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से मात्र पाप का संवर होता है और पुण्यबंध होता है। इसप्रकार विचार करना संवर भावना है।

शुद्धनिश्चय से तो जीव के संवर ही नहीं है; क्योंकि शुद्धात्मा तो पर और पर्याय से एक अभेद ही है; इसलिए संवर के विकल्प से रहित आत्मा का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है। इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है। जयचन्दजी छाबड़ा ने कहा है -

निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।  
समिति गुप्ति संजम धरम, करैं पाप की हानि ॥

पण्डित दौलतरामजी कहते हैं -

जिन पुण्य पाप नहीं कीना, आत्म अनुभव चित दीना।  
नित ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥

युगलजी ने कहा है -

शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल।  
शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल ॥

व्यवहारनयपरक संवरानुप्रेक्षा में मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभोपयोग का संवर होता है और केवल आत्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग से शुभयोग का संवर होता है तथा शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं, इसलिए संवर का कारण ध्यान है - ऐसा निरन्तर विचारते रहना संवर अनुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षा का मूल प्रयोजन यह है कि इसका चिन्तन करनेवाले जीव के संवर में निरन्तर उद्यमशीलता बनी रहती है और इससे मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

९. निर्जरानुप्रेक्षा - निर्जरानुप्रेक्षा का स्वरूप बताते हुए आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि निर्जरा के गुण-दोषों का चिन्तन करना, निर्जरानुप्रेक्षा है।

निश्चयनयपरक निर्जरानुप्रेक्षा में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि शुभाशुभभाव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के तप करता है; वह नियम से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है।

जो साम्यभाव सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, ध्यान करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है; उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

निज परमात्मानुभूति के बल से निर्जरा करने के लिए दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षारूप विभावपरिणाम के त्यागरूप संवेग तथा वैराग्य परिणामों के साथ रहना निर्जरानुप्रेक्षा है।

व्यवहारनयपरक निर्जरानुप्रेक्षा में कहा है कि निर्जरा दो प्रकार की है एक स्वकालपक्व और दूसरी तप द्वारा होनेवाली। इनमें से पहली तो चारों गतिवाले जीवों के होती है और दूसरी केवल व्रतधारी श्रावक और मुनियों के होती है।

अहंकार और निदान रहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है।

वेदनाविपाक का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की होती है - अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से उत्पन्न हुई जो अबुद्धिपूर्वा (सविपाक) निर्जरा होती है, तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला (अविपाक) निर्जरा है, वह शुभानुबन्धा और निरानुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण दोषों का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

पण्डित दौलतरामजी कहते हैं -

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।  
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावे ॥

१०. लोकानुप्रेक्षा - यद्यपि लोकभावना की विषयवस्तु बहुत विस्तृत है, तथापि ज्ञानियों ने उसका प्रतिपादन एक-एक छन्द में भी साररूप में ऐसे अतिसंक्षेप में किया है; फिर भी लोकभावना की सम्पूर्ण भावना को उसमें समाहित कर लिया है।

इस दृष्टि से कविवर दौलतरामजी का निम्न पद्य दृष्टव्य है -

किनहू न करौ न धरै को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।

सो लोकमांहि विन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता ॥

छहद्रव्यों के समुदायरूप इस लोक को न तो किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इस लोक में यह आत्मा अनादिकाल से समताभाव के बिना भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःख सह रहा है।

कविवर भूधरदासजी कहते हैं कि -

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।

तामें जीव अनादि तैं, भ्रमत है विन ज्ञान ॥

इस पुरुषाकार चौदह राजू ऊँचे लोक में यह जीव आत्मज्ञान बिना अनादिकाल से ही भ्रमण कर रहा है।

उपर्युक्त दोनों कवियों में तुलना करते हैं तो मात्र इतना अन्तर है कि एक में समता के बिना जीव को दुःखी बताया है और दूसरे पद्य में सम्यग्ज्ञान के बिना दुःखी बताया है।

लोकभावना में छहद्रव्यों के समुदायरूप लोक की बात एवं लोक की भौगोलिक स्थिति चिन्तन का विषय बनती है।

इस भावना में मूल बात लोक के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं, बल्कि सम्यग्ज्ञान और समताभाव बिना जीव के अनादि से परिभ्रमण की है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और समताभाव की रुचि जागृत करना ही इन भावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन है।

यह बात कविवर मंगतरायकृत लोकभावना में अधिक स्पष्ट हुई है, जो इसप्रकार है -

“लोक अलोक अकाश माँहि थिर निराधार जानो।  
पुरुषरूप कर कटि भये षट्द्रव्यन सों मानो ॥  
इसका कोई न करता हरता अमिट अनादी है।  
जीव रु पुद्गल नाचे यामें कर्म उपाधी है ॥  
पाप-पुण्य सों जीव जगत में नित सुख-दुख भरता।  
अपनी करनी आप भरै शिर औरन के धरता ॥  
मोहकर्म को नाश मेटकर सब जग की आशा।  
निजपद में थिर होय लोक के शीश करो वासा ॥

अलोकाकाश में यह षट्द्रव्यमयी लोक निराधार (स्वयं के आधार पर) स्थित है और कमर पर हाथ रखे पुरुष के आकार का है। इस लोक का कोई भी कर्ता-हर्ता नहीं है; क्योंकि यह अनादि-अनन्त अमिट है। इस लोक में कर्म की उपाधि के कारण जीव और पुद्गल ही नृत्य कर रहे हैं, पाप-पुण्य के वश जीव निरन्तर दुःख-सुख भोग रहा है।

यद्यपि यह जीव अपनी करनी का फल स्वयं ही भोगता है; तथापि उसे दूसरों के शिर मढ़ता रहता है। यह वृत्ति ही इसके दुःखों का, परिभ्रमण का मूल कारण है।

अतः हे भव्यप्राणियों! यदि अपना हित चाहते हो तो सम्पूर्ण जगत की सभी आशाओं को मेटकर और मोहकर्म का नाश करके निज पद में स्थिर हो जाओ। यदि ऐसा कर सके तो तुम्हारा आवास लोक के शिखर पर होगा। तात्पर्य यह है कि तुम्हें सिद्धपद की प्राप्ति होगी; क्योंकि सिद्ध भगवान ही लोकशिखर पर विद्यमान सिद्धशिला पर विराजते हैं।”

लोकभावना की मूल भावना पण्डित जयचंदजी छाबड़ा के शब्दों में इसप्रकार है -

लोकस्वरूप विचारिकै आतमरूप निहारि।

परमारथ व्यवहारगुणि मिथ्याभाव निहारि ॥

हे आत्मन् ! निश्चय-व्यवहार को अच्छी तरह समझकर मिथ्याभावों

को दूर करो। छहद्रव्यमयी लोक के स्वरूप को भलीभांति विचार कर स्वयं को देखो, आत्मा का अनुभव करो।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं - अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्य देश में स्थित लोक के आकारादिक का वर्णन करके, उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना, लोकानुप्रेक्षा है।

इसप्रकार लोकस्वरूप विचारनेवाले के तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

लोकभावना के व्यवहार एवं निश्चयनय का कथन करते हुए स्वामी कार्तिकेय कहते हैं कि -

**एवं लोयसहावं, जो ज्ञायदि उवसमेक्कसब्भाओ।**

**सो खविय कम्मपुंजं, तस्सेव सिहामणी होदि ॥**

अर्थात् जो पुरुष लोक के स्वभाव को जानकर, उपशमभाव से परिणत होकर एकभाव अपनी आत्मा को ध्याता है, वह कर्मसमूह का नाश करता है और लोक का शिखामणि होता है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।

**११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा** - रत्नत्रयरूप बोधि की दुर्लभता एवं अदुर्लभता का विचार करके, उस उपाय के प्रति प्रवर्तित होना बोधिदुर्लभ भावना है।

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय की चिन्ता करने को अत्यन्तदुर्लभ बोधिभावना कहते हैं, क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वद्रव्य अर्थात् निज आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न होता है, इसलिए सुलभ है, उपादेय है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने कहा भी है -

**बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।**

**भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥**

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि तो आत्मा का स्वभावभाव है; अतः निश्चय से दुर्लभ नहीं है।

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इसप्रकार स्थावर

जीवों से यह सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। जिसप्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका का मिलना दुर्लभ है; उसीप्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

त्रसपर्याय में विकलत्रयों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रियों) की बहुलता है। जिसप्रकार गुणों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है; उसीप्रकार त्रसपर्याय में पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पंचेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, मृग, पक्षी और सर्पादि की ही बहुलता है। अतः जिसप्रकार चौराहे पर पड़ी हुई खोई हुई रत्नराशि का मिल जाना कठिन है; उसीप्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है।

यदि एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गई तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूपी होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुनः हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए।

इसप्रकार अति कठिनता से प्राप्त धर्म को पाकर भी विषयसुख में रंजायमान होना भस्म के लिए चन्दन जला देने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सहज समाधि का, सुख से मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है - ऐसा विचार करना ही बोधिदुर्लभ भावना है।

यदि काकतालीयन्याय से इन मनुष्यगति, आर्यत्व, तत्त्वश्रवणादि सबकी प्राप्ति हो जाए तो भी इनके द्वारा प्राप्त करनेरूप जो ज्ञान है, उसके फलभूत जो शुद्धात्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परम-समाधि है, वह दुर्लभ है। इसलिए उसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। पहले अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्राप्त

होना तो बोधि कहलाता है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना, सो समाधि है।

बोधिदुर्लभभावना भावना में रत्नत्रयरूप बोधि को कहीं सुलभ तो कहीं दुर्लभ बताया गया है - इसका मूल प्रयोजन यह है कि यह आत्मा इस षट्द्रव्यमयी विस्तृत लोक से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्दस्वभावी निजलोक को जानकर-पहिचानकर, उसी में जम जाने, रम जानेरूप रत्नत्रयरूप धर्मदशा को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर अनन्त सुखी हो।

अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उपलब्ध मनुष्यपर्याय की दुर्लभता का भान कराया जाता है और फिर उसकी सार्थकता के लिए रत्नत्रय प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए रत्नत्रय की दुर्लभता का भान कराया जाता है। तदर्थ भरपूर प्रेरणा भी दी जाती है। साथ ही संयोग अनेक बार उपलब्ध हो गये हैं - यह बताकर उनके प्रति विद्यमान आकर्षण को कम किया जाता है।

किन्तु जब यह जीव बोधिलाभ को अत्यन्त कठिन मानकर अनुत्साहित होकर पुरुषार्थहीन होने लगता है, तो उसके उत्साह को जागृत रखने के लिए उसकी सुलभता का ज्ञान भी कराया जाता है।

अतः बोधि की दुर्लभता और सुलभता - दोनों एक ही उद्देश्य की पूरक हैं। बोधिलाभ स्वाधीन होने से सुलभ भी है और अनादिकालीन अनुपलब्धि एवं अनभ्यास के कारण दुर्लभ भी है।

तात्पर्य यह है कि बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता बताकर उनकी प्राप्ति के लिए सतर्क किया जाता है और सुलभता बताकर उसके प्रति अनुत्साह को निरुत्साहित किया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बोधिदुर्लभभावना के चिन्तन में दोनों पक्ष समानरूप से उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का विचार करनेवाले इस जीव को बोधि प्राप्त होने पर कभी प्रमाद नहीं होता।

इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को संसार की समस्त दुर्लभ वस्तुओं से भी दुर्लभ जानकर इन तीनों का महा आदर करना चाहिए।

**दुर्लभ परद्रव्यनि को भाव, सो तोहि दुर्लभ है सुनि राव।**

**जो है तेरो ज्ञान अनन्त, सो नहिं दुर्लभ सुनो महन्त॥**

अर्थात् पदार्थों की प्रवृत्ति अपने आधीन न होने से परद्रव्यों के भाव ही वस्तुतः दुर्लभ हैं। हे आत्मन्! तेरा जो अनन्तज्ञानरूप भाव है, वह किसी भी रूप में दुर्लभ नहीं है।

**१२. धर्मानुप्रेक्षा** - निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का बारम्बार विचार/चिन्तन करना धर्म भावना या धर्मानुप्रेक्षा है।

जीव निश्चयनय से सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनिधर्म से बिलकुल जुदा है, इसलिए राग-द्वेषरहित मध्यस्थ परिणामों से शुद्ध स्वरूप आत्मा का ही सदा चिन्तन करना चाहिए।

समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना - इन सबको धर्म कहा जाता है।

**जो भावमोह तैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।**

**सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै॥**

दर्शनमोह व चारित्रमोह से भिन्न जो आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव हैं, वे ही धर्म हैं। जब यह जीव इन धर्मों को धारण करता है तभी अचल सुख को प्राप्त करता है -

**दर्श ज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखान।**

**दया क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि॥**

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि - जिनदेव ने कहा है कि श्रावकों और मुनियों का धर्म सम्यक्त्वसहित होता है। जो जीव श्रावकधर्म को छोड़कर मुनियों के धर्म का आचरण करता है, वह अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसापरमोधर्मः बताकर धर्म का लक्षण अहिंसा कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म-विपाक से उत्पन्न खोटे कर्म के फल स्वरूप दुःख को अनुभव करते हुए जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं और इसका लाभ होने पर नानाप्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है - ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।

भूधरदासजी कृत बारह भावना में कहा है कि -

**याचे सुरतरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन।**

**बिन याचे बिन चिंतबे, धर्म सकल सुख दैन।।**

कल्पवृक्ष याचना करने पर फल देते हैं, चिन्तामणि रत्न से फल प्राप्त करने के लिए उसका चिन्तन करना पड़ता है, परन्तु धर्म बिना मांगे और बिना चिन्तन किए ही सब प्रकार से सुखद है।

धर्मानुप्रेक्षा का प्रयोजन बताते हुए पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि धर्मानुप्रेक्षा का चिन्तन करनेवाले इस जीव का धर्मानुरागवश उसकी प्राप्ति के लिए सदा यत्न होता है।

अन्त में उपर्युक्त सभी चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्तव्य धर्म का चिन्तन प्रस्तुत करते हुए डॉ. भारिल्ल ने बारह भावना अनुशीलन में कहा है -

अनित्य भावना में मरण की बात को सुनकर यह रागी प्राणी सुरक्षा के अनेक उपाय करता है। जब यह अपने मरणादि को टालने के उपायों का विचार करता है, तब अशरण भावना में यह बताया जाता है कि वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा नहीं, मणि-मंत्र-तंत्र नहीं, जो तुझे या तेरे पुत्रादि को मरने से बचा लें।

तब यह सोच सकता है कि न सही ये संयोग, दूसरे संयोग तो मिलेंगे ही, तब इसे संसार भावना के माध्यम से समझाते हैं कि संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दुःखरूप ही हैं। तब यह सोच सकता है कि मिल-जुलकर सब भोग लेंगे, उसके उत्तर में एकत्व भावना में दृढ किया जाता है कि दुःख मिल-बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे। इसी बात को नास्ति से अन्यत्व भावना में दृढ किया जाता है कि कोई साथ नहीं दे सकता। जब यह शरीर ही साथ नहीं देता तो स्त्री-पुत्रादि परिवार तो क्या साथ देंगे ?

अशुचि भावना में कहते हैं कि जिस देह से तू राग करता है, वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है।

इसप्रकार प्रारम्भ की छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है, जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है। इन भावनाओं में देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है।

जब यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों से विरक्त होकर गुण-पर्यायरूप निजद्रव्य की सीमा में आ जाता है, तब आस्रव भावना में आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हैं। यह बताते हैं कि आस्रवभाव दुःखरूप हैं, दुःख के कारण हैं, मलिन हैं और भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, सुख का कारण है एवं अत्यन्त पवित्र है।

इसप्रकार आस्रवों से भी दृष्टि हटाकर संवर-निर्जरा भावना में अतीन्द्रिय आनन्दमय संवर-निर्जरा तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं, उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। फिर लोकभावना में लोक का स्वरूप बताकर बोधिदुर्लभ भवना में यह बताते हैं कि इस लोक में एक रत्नत्रय ही दुर्लभ है और सब संयोग तो अनन्तबार प्राप्त हुए, पर रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई,

यदि कही हुई होती तो संसार से पार हो गये होते। अन्त में धर्म भावना में यह बताते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना ही इस मनुष्यभव का सार है। मनुष्यभव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म की प्राप्ति में ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है। बस, आज इतना ही, शेष फिर। ॐ नमः

- |                                   |                             |
|-----------------------------------|-----------------------------|
| १. बृहदद्रव्यसंग्रह टीका, गाथा-३५ | २. पण्डित जयचन्द छाबड़ा     |
| ३. समयसार गाथा ७३                 | ४-६. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा |
| ७. पण्डित भागचन्दजी               | ८-९. पण्डित दौलतरामजी       |
| १०. युगलजी                        |                             |

### ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं

आप तरैं अरु पर को तरैं, निष्पृही निर्मल हैं।

ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं ॥१॥

तिल तुष मात्र संग नहिं जिनके, ज्ञान-ध्यान गुण बल हैं।

ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं ॥२॥

शांत दिगम्बर मुद्रा जिनकी, मन्दर तुल्य अचल हैं।

ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं ॥३॥

‘भागचन्द’ तिनको नित चाहें, ज्यों कमलनि को अलि हैं।

ऐसे साधु सुगुरु कब मिलि हैं ॥४॥

१५

आचार्यश्री ने चातुर्मास के अन्तिम प्रवचन में कहा - “जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग सुनिश्चित है; क्योंकि संयोग का वियोग के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं।”

जो व्यक्ति जितने जल्दी इस परम सत्य को समझ लेगा, स्वीकार कर लेगा वह उतने जल्दी संभल जायेगा। फिर वह संयोगों में उलझकर संयोगीभाव (राग-द्वेष) नहीं करेगा। अपनी प्राप्त पर्याय की सुविधाओं का आत्महित में सदुपयोग कर लेगा। अन्यथा शेष जीवन भी यों ही कमाने-खाने और मौज-मस्ती में, ऐसो-आराम में बिना भावी जन्म की योजना बनाये व्यतीत हो जायेगा। फिर यह जीव संसार सागर की चौरासी लाख योनियों में अनन्तकाल तक गोते खाता रहेगा।

हमें पता नहीं कि हमारे जीवन रूपी खिलौने में और कितनी चाबी शेष है, यह खिलौना चलते-चलते कब बंद हो जायेगा? किसी ईश्वरवादी कवि ने कितना अच्छा सिद्धान्त समझाया है - ‘जितनी चाबी भरी राम ने उतना चले खिलौना’ कितना प्रभावी है यह पद्य; परन्तु हम इसे एक सिने-कलाकार की बात समझकर यों ही हंस कर हवा में उड़ा देते हैं। इस पर गंभीरता से विचार कर शेष जीवन को सार्थक करने की कोशिश नहीं करते।

अब हमें अपने जीवन को पानी के बुलबुले की भाँति क्षण भंगुर मानकर एक क्षण खोए बिना अगले जन्म के बारे में भी सोचना होगा।

देखो, अनुकूल संयोगों में हम जितने हर्षित होते हैं, उन संयोगों के वियोग में उतना ही दुःख होता है। चार माह पूर्व जब मुनिसंघ का आगमन हुआ था, तब आप लोग हर्ष से फूले नहीं समाये। वे चार माह कब/कैसे बीत गये? कुछ पता ही नहीं चला। इस मंगलमय सु-अवसर

का आप लोगों को जितना लाभ लेना चाहिए था, नहीं ले पाये। इसमें मुनि संघ की ओर से कोई कमी नहीं रही। मुनिसंघ ने मेरे निर्देशानुसार धर्ममय वातावरण बनाकर तत्त्वज्ञान का उपदेश देने में कोई कसर नहीं छोड़ी; परन्तु आप लोग विशेषकर महिलायें प्रवचनों के समय भी मुनिसंघ के लिए आहार बनाने में उलझी रहीं, जो सर्वथा अनुचित था। इस कारण भी मुनियों का उद्दिष्ट आहार बदनाम होता है। मुनियों के आहार के निमित्त किसी को भी धार्मिक लाभ से वंचित नहीं रहना चाहिए? अस्तु :”

इस व्यक्तिगत उद्बोधन के उपरान्त आचार्यश्री ने पूर्व नियोजित प्रवचनों की शृंखला में आज मुनियों के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रारंभ की।

“देखो, उपयोग की अपेक्षा मुनिराज के दो भेद हैं - १. शुद्धोपयोगी मुनि और २. शुभोपयोगी मुनि। शुद्धोपयोगी मुनि निरास्रव हैं और शुभोपयोगी सास्रव है।

शुद्धोपयोगी श्रमण वे हैं जो समस्त परद्रव्य से निवृत्ति करके, सुविशुद्ध-दर्शन-ज्ञान स्वभाववाले आत्मतत्त्व में आरूढ हैं तथा जो श्रामण्य परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय अंश के जीवित होने से समस्त परद्रव्यों की निवृत्ति करके सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाववाले आत्मतत्त्व में आरोहण करने में असमर्थ हैं, अतः प्रमत्त गुणस्थान में रह रहे हैं। संज्वलन चौकड़ी कषाय के कारण जिनकी शक्ति अभी कुण्ठित है, परन्तु शुद्धोपयोग भूमिका में जाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित रहते हैं।

शुभोपयोगी मुनि का लक्षण बताते हुए प्रवचनसार गाथा २४६ में लिखा है - “जिस श्रामण्य में अरहन्तादिक के प्रति भक्ति तथा प्रवचन करते हुए जिज्ञासु जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है, उसकी मुनिचर्या शुभोपयोगी चारित्ररूप है। श्रमणों के प्रति वन्दन-नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप प्रवृत्ति करने तथा उनका श्रम दूर करने आदि की रागचर्या शुभोपयोगी मुनि को निन्दित नहीं है।

वास्तव में ये भेद उपयोग की अपेक्षा हैं, व्यक्ति की अपेक्षा नहीं। वे ही मुनिराज जिस समय शुद्धोपयोग से युक्त हैं, उस समय उन्हें शुद्धोपयोगी संज्ञा है और जिस समय वे ही मुनि शुभोपयोग से युक्त हैं, उस समय उन्हें ही शुभोपयोगी संज्ञा है।

प्रवचनसार गाथा २४५ की टीका में उल्लिखित शुभोपयोग के साथ धर्म का ‘एकार्थसमवाय’ शब्द भी ध्यान देने योग्य है। तात्पर्य यह है कि वे श्रमण अंतरंग में तो मुनिपद के योग्य शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणित से प्रवर्तमान हैं, तथापि सम्पूर्णरूप से आत्मस्वरूप में स्थिरता के अभाव में वे ही श्रमण शुभोपयोगी कहलाते हैं।

‘जो श्रमण शुभोपयोगी हैं, वे सदा शुभोपयोगी ही रहें, ऐसा नहीं है, कभी-कभी शुद्धोपयोगी भी होते हैं; किन्तु शुभोपयोग की प्रधानता की दृष्टि से वे शुभोपयोगी कहलाते हैं।

छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती एक ही मुनिराज के कभी शुद्धोपयोग होता है तथा कभी शुभोपयोग होता है। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी - ये भेद धर्म से परिणमित मुनिराजों के हैं।

जो नग्न दिगम्बर हैं, अट्टाईस मूलगुणों का पालन करते हैं, प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में शुद्धोपयोग में जाते हैं - ऐसे मुनिराज जब सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग में जाते हैं, तब शुद्धोपयोगी हैं तथा जब छठवें गुणस्थान में आते हैं, तब शुभोपयोगी हैं।

यह बात बहुत स्पष्ट है कि चाहे वे शुद्धोपयोग में हो या शुभोपयोग में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप निर्मल परिणति सदा विद्यमान होने से वे धर्मात्मा ही हैं, परम पूज्य ही है।”

### मुनियों के पाँच भेद

आचार्यश्री ने आगे कहा - “मुनियों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक - ऐसे पाँच भेद भी तत्त्वार्थसूत्र में कहे हैं।

१. पुलाक मुनि - जो उत्तरगुणों की भावना से तो रहित ही होते हैं, मूलगुणों के व्रतों में भी किसी काल व किसी क्षेत्र में परिपूर्णता को



प्राप्त नहीं करते हैं, उन्हें पुलाक मुनि कहते हैं। पुलाक का अर्थ है धान अर्थात् छिलकासहित चावल। यहाँ अशुद्धता के मिलाप के कारण साधु को पुलाक कहा है।

**२. बकुश मुनि** – जो निर्ग्रन्थ होते हैं, मूलगुणों का अखण्ड पालन करते हैं, किन्तु शरीर-पीछी-कमण्डलु-पुस्तकादि को संवारने-सजाने में जिनका परिणाम रहता है, धर्म तथा अपने यश-प्रभाव को चाहता है, उसे सांसारिक प्रयोजन के लिए नहीं; अपितु संघ और धर्म की प्रभावना के लिए ऋद्धि की इच्छा होती है, अपनी साता बनी रहने को भला जानता है, किन्तु परमार्थ से तो यह भी परिग्रह ही है। संघ और उपकरण का हर्ष होना छेद है, उस छेद से मिश्रित आचरणसहित होने से बकुश (चितकबरा) कहा गया है।

बकुश साधु दो प्रकार के होते हैं – उपकरण बकुश और शरीर बकुश। जो सुन्दर सजे हुए पीछी-कमण्डलु उपकरणों की आकांक्षा करते हैं, वे उपकरण बकुश साधु हैं तथा जो शरीर का संस्कार करते हैं, वे शरीर बकुश हैं।

**३. कुशील मुनि** – कुशील के दो भेद हैं – एक – प्रतिसेवना कुशील और दूसरा – कषाय कुशील। प्रति सेवना मुनि वे हैं – जिनके उपकरण तथा शरीरादि से भिन्नता या विरक्तता नहीं हुई है; किन्तु मूलगुणों-उत्तरगुणों की परिपूर्णता है, परन्तु कभी-कभी किसी तरह से उत्तरगुणों में विराधना भी हो जाती है।

कषाय कुशील वे हैं – जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को तो वश में किया है, किन्तु जो संज्वलन कषाय के उदय के आधीन हैं।

**४. निर्ग्रन्थ मुनि** – जिनके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण कषायरूप मोहकर्म के उदय का तो अभाव हुआ है; किन्तु संज्वलन कषाय का मंद उदय है, जैसे जल में लाठी डालने से रेखा-लहर आती है, किन्तु शीघ्र ही विलीन हो जाती है, उसीप्रकार

प्रदेशों का तथा उपयोग का मन्द-मन्द चलना होता है, किन्तु प्रगट अनुभव में नहीं आता है। इनका ११वाँ और १२वाँ गुणस्थान होता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में तो चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम हुआ है, अतः ऊपर चढ़ ही नहीं सकता है, गिरता ही है। यदि वह १० वें गुणस्थान में आकर मरण करे तो अहमिन्द्रों में जाकर उत्पन्न होता है।

बारहवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणीवाला तो अंतर्मुहूर्त के बाद केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न कर केवली हो जाता है, वह निर्ग्रन्थ मुनि है।

**५. स्नातक** – जो सम्पूर्ण घातिकर्मों का नाश करके केवली जिन हुए, उन्हें स्नातक कहते हैं।

उक्त पाँचों ही प्रकार के मुनि यद्यपि वस्त्र, आभरण, आयुध, गृह, कुटुम्ब, धान्यादि का अभाव होने से पूर्ण निर्ग्रन्थ ही हैं, तथापि मोहनीयकर्म का सद्भाव होने से पुलाक, बकुश, कुशील साधुओं को अन्तर से पूर्ण निर्ग्रन्थपना नहीं है। लेकिन व्यवहारनय से सभी को निर्ग्रन्थ ही कहते हैं। परमार्थ से तो समस्त मोहनीयकर्म का अभाव होने पर क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थानवर्ती के ही निर्ग्रन्थपना होता है।

राजवार्तिक में इस संबंध में शंका करते हुए कहा है कि – “जैसे चारित्रगत भेदों के कारण गृहस्थ को निर्ग्रन्थ संज्ञा नहीं मिलती है, उसीप्रकार पुलाकादि मुनियों में भी उत्कृष्ट-मध्यम आदि चारित्र के भेद से निर्ग्रन्थपना नहीं बनता है, फिर उन्हें निर्ग्रन्थ कैसे कहते हैं?”

समाधान यह किया है कि जैसे ब्राह्मण जाति में भी आचार-अध्ययनादि के भेद से भिन्नता है तो भी ब्राह्मणपने की अपेक्षा से सभी ब्राह्मण हैं, उसीप्रकार यहाँ भी जानना।

तत्त्वार्थसूत्र में आये १. संयम, २. श्रुत, ३. प्रतिसेवना, ४. तीर्थ, ५. लिंग, ६. लेश्या, ७. उपपाद और ८. स्थान – इन आठ अनुयोगों द्वारा पुलाकादि मुनियों के कौन-कौनसे अनुयोग होते हैं? यह कहते हैं –

**संयम** – पुलाक, बकुश, और प्रतिसेवना कुशील साधुओं के सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होते हैं। कषाय कुशील साधु के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही होता है।

**श्रुत** – पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील – साधुओं के उत्कृष्टतम ज्ञान दशपूर्व का होता है तथा कषायकुशील और निर्ग्रन्थ साधु चौदह पूर्व के धारी होते हैं, जघन्यज्ञान की अपेक्षा पुलाक मुनि को (आचारवस्तु) ५ समिति, ३ गुप्ति का ज्ञान होता है; बकुश, कुशील तथा निर्ग्रन्थों के जघन्यज्ञान अष्ट प्रवचनमाता, (५ समिति, ३ गुप्ति) का ज्ञान होता है और स्नातक तो केवली होते ही हैं।

**प्रतिसेवना** – प्रतिसेवना का अर्थ विराधना है। पुलाक मुनि के पाँच महाव्रतों में से किसी एक व्रत में परवशता से विराधना हो जाती है। यद्यपि महाव्रतों में मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से पाँच पापों का त्याग होता है; तथापि अपनी सामर्थ्य की हीनता से पुलाक के किसी भेद में दोष लग जाता है।

**तीर्थ** – सभी तीर्थकरों के धर्मशासन में पाँचों प्रकार के मुनि होते हैं।

**लिंग** – लिंग के दो भेद हैं – १. द्रव्यलिंग और २. भावलिंग। पुलाक, बकुश आदि पाँचों प्रकार के मुनि भावलिंगी ही होते हैं; क्योंकि वे सम्यग्दर्शनसहित संयम पालने में तत्पर-सावधान होते हैं। शरीर की ऊँचाई, रंग व पीछी आदि की अपेक्षा बाह्यलिंग में उनमें अन्तर होता है। कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई ध्यान करता है, कोई तीर्थों में विहार करता है, किसी को कोई दोष लगता है, कोई प्रायश्चित लेता है, कोई दोष नहीं लगने देता है, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई निर्यापक

है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई श्रेणी आरोहण करता है, कोई केवलज्ञान उत्पन्न करता है – इत्यादि प्रवृत्ति से बाह्यलिंग में अन्तर होता है। यथाजातरूप नग्न दिगम्बरपना सभी के है, इसमें भेद नहीं है।

**लेश्या** – पुलाक, बकुश व प्रतिसेवना कुशील मुनियों के अंतिम तीनों शुभ लेश्याएँ ही होती हैं, इनके बाह्य प्रवृत्ति का अवलम्बन नहीं रहता है, वे अपने मुनिपने के साधन में ही लीन रहते हैं। कषाय कुशील के कापोतादि चार लेश्याएँ होती हैं। अन्य आचार्यों के अभिप्राय से इनके तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगी जिन लेश्यारहित होते हैं।

**उपपाद** – पुलाक मुनि का उत्कृष्ट उपपाद जन्म सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग में १८ सागर की उत्कृष्ट आयु के धारक देवों में होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि का उत्कृष्ट देवों में होता है। कषाय कुशील और ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थानवाले निर्ग्रन्थ मुनियों का उत्कृष्ट उपपाद जन्म ३३ सागर की आयुवाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में होता है। इन सभी पुलकादि ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती तक मुनियों का जघन्य उपपाद दो सागर की आयुवाले सौधर्म-ईशान देवों में होता है। बारहवें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ एवं स्नातक को तो निर्वाण ही होता है।

**स्थान** – साधुओं के कषायनिमित्तिक असंख्यात संयमस्थान होते हैं। पुलाक और कषाय कुशील के सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनों असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं।

### द्रव्यलिंग-भावलिंग का स्वरूप

जो श्रमण द्रव्यलिंगसहित भावलिंग को धारण करते हैं, वे भाव की प्रधानता से भावलिंगी श्रमण कहलाते हैं तथा जो श्रमण भावलिंग रहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करते हैं, वह द्रव्यलिंगी श्रमण कहलाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्वयं भावलिंगी साधु का वर्णन करते हुए लिखा है – “जो देहादि परिग्रह और मानकषाय से रहित हैं एवं अपनी

आत्मा में लीन रहते हैं; वे साधु भावलिङ्गी हैं।

भावलिङ्गी मुनि के भाव इस प्रकार होते हैं कि “मैं परद्रव्य और परभावों से ममत्व को छोड़ता हूँ। मेरा निजभाव ममत्वरहित है, उसको अङ्गीकार कर मैं उसमें स्थित हूँ। अब मुझे आत्मा का ही अवलम्बन है, अन्य सभी को मैं छोड़ता हूँ।”

जिनका आचरण मूलगुणों और उत्तरगुणों को उत्कृष्ट भावों से धारण करने का है, वे भावश्रमण हैं।<sup>१२</sup> उनका चिन्तन ऐसा होता है कि -

“एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात् मेरा आत्मा ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप शाश्वत और एक ही है। शेष भाव मुझसे बाह्य हैं; वे सब ही संयोग लक्षणस्वरूप हैं, परद्रव्य हैं।”<sup>१३</sup>

वस्त्र धारण के संबंध में कहते हैं कि वस्त्र के मलिन हो जाने पर उसको धोने के लिए जल एवं साबुन आदि का आरम्भ करना पड़ता है और इस अवस्था में संयम का घात होना अवश्यम्भावी है। वस्त्र के नष्ट होने पर पुरुषों का मन व्याकुल हो जाता है, दूसरों से उसको प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करनी पड़ती है। इसलिए मुनिजन सदा पवित्र एवं रागभाव को दूर करने के लिए दिग्मण्डलरूप अविनश्वर वस्त्र का आश्रय लेते हैं।<sup>१४</sup>

द्रव्य-भावलिङ्ग में भावलिङ्ग प्रधान हैं; क्योंकि भावलिङ्ग साक्षात् मोक्ष का कारण है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग होने पर भी यदि भावलिङ्ग न हो तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती और अन्तरंग भावलिङ्ग हो, किन्तु द्रव्यलिङ्ग न हो - ऐसा तीन काल में कभी होता ही नहीं है।

आगम में स्पष्ट लिखा है कि - ‘भावसमणा हु समणा’ - जो भाव-श्रमण हैं, वे ही श्रमण हैं, अन्य नहीं।<sup>१५</sup> ‘भावलिङ्ग ही प्रथमलिङ्ग है, इसलिए हे भव्य जीव! तू द्रव्यलिङ्ग को परमार्थभूत मत जान! गुण-दोष का कारणभूत भाव ही है - ऐसा जिन भगवान कहते हैं।<sup>१६</sup>

‘भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, भाव से रहित श्रमण पापस्वरूप

है, तिर्यचगति का स्थानक है तथा कर्ममल से मलिन चित्तवाला है।<sup>१७</sup>

‘जो भावश्रमण है, वे परम्परा से कल्याण स्वरूप हैं - तथा जो द्रव्यश्रमण हैं, वे मनुष्य, देव आदि योनियों में दुःख पाते हैं।<sup>१८</sup>

‘सम्यग्दर्शनरहित मुनिदीक्षा धारण करना व्यर्थ है, इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।<sup>१९</sup>

‘जो जीव परब्रह्म को नहीं जानता है और जो सम्यग्दर्शन से रहित है, वह न तो गृहस्थ अवस्था में है और न साधु अवस्था में है। केवल बाह्य लिङ्ग को धारण कर क्या कर सकते हैं? कर्मों का नाश तो सम्यक्त्वसहित चारित्ररूप जिनलिङ्ग धारण करने से ही होता है।<sup>२०</sup>

‘जो सम्यग्दर्शनसहित निर्ग्रन्थरूप है, वही निर्ग्रन्थ है।<sup>२१</sup>

‘आप्त, आगम के द्वारा निरूपित पदार्थों के स्वरूप में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है तथा जिसका चित्त मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। भले प्रकार ज्ञान और श्रद्धान कर जो यमसहित है, उसे संयत कहते हैं। संयत शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्यसंयम का प्रकरण नहीं है।<sup>२२</sup>

**द्रव्यलिङ्ग की गौणता दर्शानेवाले आगम प्रमाण**

‘बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों अथवा गृहीलिङ्गों को ग्रहण करके मूढ़ अज्ञानीजन यह कहते हैं कि ‘यह लिङ्ग मोक्षमार्ग है’, परन्तु लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि अरहन्तदेव देह के प्रति निर्ममत्व वर्तते हुए लिङ्ग को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं; अतः मुनियों और गृहस्थों के लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं हैं।<sup>२३</sup>

जो संयमरहित जिनलिङ्ग धारण करता है, वह सब निष्फल है।<sup>२४</sup>

‘जैसी बोधि-समाधि जिनमार्ग में कही है, वैसी बोधि-समाधि द्रव्यलिङ्गी साधु नहीं पाता है।<sup>२५</sup>

‘लिङ्ग शरीर के आश्रित है और शरीर ही आत्मा का संसार है, इसलिए जिनको लिङ्ग का ही आग्रह है, वे संसार से नहीं छूटते।<sup>२६</sup>

‘शरीर आत्मा से भिन्न है और लिङ्ग शरीरस्वरूप है, इसलिए आत्मा

से भिन्न होने के कारण निश्चयनय से लिंग मोक्ष का कारण नहीं है।<sup>१७</sup>

‘हे मुने! तू लोक का रंजन करनेवाला बाह्यव्रत का वेष मत धारण कर! मोक्ष का मार्ग भाव ही से है, इसलिए तू भाव ही को परमार्थभूत जानकर अंगीकार करना। केवल द्रव्यमात्र से क्या साध्य है?’<sup>१८</sup>

जहाँ न्यूनतम तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप भावलिंग होता है, वहाँ तो शरीर की नग्नदशा, बाह्य मूलगुणादि का पालन इत्यादिरूप द्रव्यलिंग होता ही है; परन्तु जहाँ द्रव्यलिंग होता है, वहाँ भावलिंग भी हो ही – ऐसा नियम नहीं है।

यहाँ मुनिव्रत से आशय भावलिंग रहित मात्र बाह्य द्रव्यलिंग समझना चाहिए; क्योंकि भावलिंग सहित द्रव्यलिंग का धारण अनन्तबार नहीं हो सकता; इसका कारण यह है कि जिसे भावलिंगपूर्वक द्रव्यलिंग होता है, उस जीव का संसार अति अल्प होता है।

भावलिंग की महिमा वाचक आगम प्रमाण –

‘बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता भी है और नहीं भी होता, कोई नियम नहीं है, परन्तु अभ्यन्तर भावलिंग के होने पर सर्वसंग के त्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है।<sup>१९</sup>’

‘मुनि लिंग धारै बिना तो मोक्ष न होय; परन्तु मुनि लिंग धारै मोक्ष होय भी अर नहीं भी होय।<sup>२०</sup>’

इस कथन से स्पष्ट है कि द्रव्यलिंग का भी अपना महत्त्व है। बिना द्रव्यलिंग के किसी जीव को भावलिंग प्रगट हो जाए – ऐसा कदापि सम्भव नहीं है; किन्तु द्रव्यलिंग से भावलिंग हो ही जाएगा – यह बात भी नहीं है।

दूसरी बात यह भी है तीर्थंकर भी जब तक गृहस्थ दशा में रहते हैं, तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। मुक्ति के लिए तो एकमात्र निर्ग्रन्थ दिगम्बर द्रव्यलिंग ही स्वीकार है। बात इतनी-सी है कि ‘द्रव्यलिंग शरीराश्रित होने से उसके प्रति ममत्व त्यागने योग्य है।’ इस बात का छल ग्रहण करके, बाह्य द्रव्यलिंग का ही निषेध करके किसी भी बाह्य

लिंग से मोक्ष प्राप्ति माननेवालों को आचार्य कुन्दकुन्द के निम्न कथनों पर ध्यान देना चाहिए – ‘जिनशासन में इस प्रकार कहा है कि ‘वस्त्र को धारण करनेवाला सीद्धता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है। यदि तीर्थंकर भी हो तो जब तक गृहस्थ में रहे, तब तक मोक्ष नहीं पाता है; दीक्षा लेकर दिगम्बररूप धारण करे, तब मोक्ष पावे; क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग हैं।<sup>२१</sup>’

‘जो निश्चेत (वस्त्ररहित) दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र में खड़े-खड़े आहार करना, आदि अद्वितीय मोक्षमार्ग का उपदेश तीर्थंकर परमदेव ने दिया है, इसके सिवाय अन्य रीति सब अमार्ग है।<sup>२२</sup>’

हे शिष्य ! द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है – ऐसा तू मत जान ! क्योंकि यहाँ तो भावलिंग से रहित यतियों को द्रव्यलिंग निषिद्ध कहा गया है। वस्तुतः भावलिंग रहित द्रव्यलिंग निषिद्ध है।

दीक्षा के बाद दो घड़ीकाल में ही भरत चक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त किया है, उन्होंने भी निर्ग्रन्थरूप से ही केवलज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु समय बहुत कम होने के कारण उनका परिग्रह त्याग लोग जानते नहीं हैं।<sup>२३</sup>

भरतेश्वर ने पहले जिनदीक्षा धारण की, सिर के केश लुंचन किये, हिंसादि पापों की निवृत्तिरूप पंच महाव्रत आदरे। फिर अन्तर्मुहूर्त में निज शुद्धात्मा के ध्यान में ठहरकर निर्विकल्प हुए। तब अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया, परन्तु इस सबका समय कम है, इसलिए महाव्रत की प्रसिद्धि नहीं हुई।<sup>२४</sup>

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में मुक्ति के कारणों की चर्चा में कहा है – ‘मुनिलिंग धारण किये बिना तो किसी को मोक्ष नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।’<sup>२५</sup>

गुणस्थानानुसार छठवें से आगे-आगे के गुणस्थानों में बढ़ती हुई शुद्धता को भावलिंग के भेद कह सकते हैं। लेकिन छठवें से चौदहवें गुणस्थान तक बाह्य नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग तो एक ही प्रकार का होता है।

छठवें से नीचे के गुणस्थानों की अपेक्षा द्रव्यलिंग के चार भेद हैं -

(१) प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि (२) चतुर्थगुण-स्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि और (३) पंचमगुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि तथा (४) छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिंग सहित द्रव्यलिंगी मुनि।

उक्त भेदों में चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि यद्यपि मोक्षमार्गी हैं, तथापि वे भावलिंगी मुनि नहीं हैं और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि भी कदाचित् अपनी निर्दोष चर्या के कारण पूजनीय होने पर भी प्रशंसनीय नहीं हैं। वे तो अविरत सम्यग्दृष्टि से भी हीन कहे गये हैं।

### मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी की पहचान -

जिनका बाह्य वेष तो नग्न दिग्म्बर होता है; परन्तु जो अपनी स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों से जिनशासन को कलंकित करते हैं, उन्हें आगम में पापश्रमण, नटश्रमण, पार्श्वस्थ, आदि नामों से तिरस्कृत किया गया है, वे कदापि पूजनीय नहीं हैं।

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से भी हीन हैं - इस सम्बन्ध में रत्नकरण्ड श्रावाकाचार में कहा है -

‘गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः ॥३३॥

दर्शनमोहरहित गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मोहवान् मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इसकारण मोही मुनि से निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।’

इसी सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा प्रस्तुत शंका समाधान भी दृष्टव्य है, जो इस प्रकार है - “यहाँ कोई कहे कि असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति विशेष है और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि को थोड़ी है; इसी से असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि तो सोलहवें स्वर्गपर्यन्त ही जाते हैं और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त जाता है। इसलिए भावलिंगी मुनि से तो द्रव्यलिंगी को हीन

कहो, उसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कैसे कहा जाये?

**समाधान** - असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है; परन्तु श्रद्धान में किसी भी कषाय के करने का अभिप्राय नहीं है तथा द्रव्यलिंगी के शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धान में उन्हें भला जानता है; इसलिए श्रद्धान की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसके अधिक कषाय है।

द्रव्यलिंगी के योगों की प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघातिकर्मों में पुण्य-पापबन्ध का विशेष शुभ-अशुभ योगों के अनुसार होता है, इसलिए वह अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त पहुँचता है; परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है; क्योंकि अघातियाकर्म आत्मगुण के घातक नहीं हैं, उनके उदय से उच्च-नीचपद प्राप्त किये तो क्या हुआ? वे तो बाह्य संयोगमात्र संसारदशा के स्वांग हैं। आप तो आत्मा है; इसलिए आत्मगुण के घातक जो घातियाकर्म हैं, उनकी हीनता ही कार्यकारी है।

घातियाकर्मों का बन्ध बाह्यप्रवृत्ति के अनुसार नहीं है, अन्तरंग कषायशक्ति के अनुसार है; इसीलिए द्रव्यलिंगी की अपेक्षा असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के घातिकर्मों का बन्ध थोड़ा है। द्रव्यलिंगी के तो सर्व घातिकर्मों का बन्ध बहुत स्थिति-अनुभाग सहित होता है और असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी आदि कर्मों का तो बन्ध है ही नहीं, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान कषाय चौकड़ी का बन्ध होता है, वह अल्पस्थिति-अनुभाग सहित होता है।

तथा द्रव्यलिंगी के कदापि गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, सम्यग्दृष्टि के कदाचित् होती है और देश व सकलसंयम होने पर निरन्तर होती है। इसी से यह मोक्षमार्गी हुआ है। इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि को शास्त्र में असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कहा है।

समयसार शास्त्र में द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता गाथा, टीका और कलशों में प्रगट की है तथा पंचास्तिकाय टीका में जहाँ केवल

व्यवहारावलम्बी का कथन किया है, वहाँ व्यवहार पंचाचार होने पर भी उसकी हीनता ही प्रगट की है तथा प्रवचनसार में द्रव्यलिंगी को संसारतत्त्व कहा है। द्रव्यलिंगी के जो जप, तप, शील, संयमादि क्रियाएँ पायीं जाती हैं, उन्हें परमात्मप्रकाशादि अन्य शास्त्रों में भी जहाँ-तहाँ अकार्यकारी बतलाया है, सो वहाँ देख लेना।<sup>३६</sup>

‘सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिंग सर्वथा निषेध योग्य है, क्योंकि वह एकमात्र संसार का ही कारण है। लेकिन सम्यक्त्वसहित चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाला द्रव्यलिंगी यद्यपि पूर्ण चारित्र से च्युत है, फिर भी सम्यक्त्व और देशचारित्र से युक्त है, अतः अपनी कमजोरी को मानता है और उसे अल्पकाल में ही सच्चा मुनिपना भी होगा - यह भी निश्चित है, अतः सम्यक्त्व सहित द्रव्यलिंग सर्वथा निषेध योग्य नहीं कहा है।

द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है; क्योंकि वह आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है। इसलिए समस्त द्रव्यलिंगों का त्याग करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाना योग्य है।<sup>३७</sup>

‘यहाँ मुनि-श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश नहीं है, जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर वेष धारण करते हैं, उनको द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाया है, क्योंकि वेषमात्र से मोक्ष नहीं है।<sup>३९</sup>

### निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा मुनिराज के भेद -

‘जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति समता है, जिसे लोष्ठ (ढेला) और सुवर्ण समान है तथा जीवन-मरण के प्रति समता है, वह (निश्चय) श्रमण है।<sup>३०</sup>

‘साधु काय व वचन के व्यापार से मुक्त, चतुर्विध आराधना में सदा रत, निर्ग्रन्थ और निर्मोही होते हैं।<sup>३१</sup>

‘जो निष्परिग्रही व निरारम्भ है, आहार में शुद्धभाव रखता है, एकाकी ध्यान में लीन होता है, सब गुणों से परिपूर्ण है वह श्रमण है।<sup>३२</sup>

‘जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करते हैं, उन्हें साधु

कहते हैं।<sup>३३</sup>

‘जो साधु बोलता नहीं है। हाथ-पाँव आदि के इशारे से कुछ नहीं दर्शाता, मन से भी कुछ चिन्तवन नहीं करता। केवल शुद्धात्मा में लीन रहता हुआ अन्तरंग व बाह्य वाग्व्यापार से रहित निस्तरंग समुद्र की तरह शान्त रहता है। जब वह मोक्षमार्ग के विषय में ही उपदेश नहीं करता है, तब वह लौकिक मार्ग के उपदेशादि कैसे कर सकता है?

ऐसे वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर अधिक प्रभावशाली हो जाता है। अन्तरंग-बहिरंग मोह की ग्रन्थि को खोलनेवाला यमी होता है। परीषहों व उपसर्गों के द्वारा वह पराजित नहीं होता और कामरूप शत्रु को जीतनेवाला होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के गुणों से युक्त साधु ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञानियों के द्वारा नमस्कार किये जाने योग्य है।<sup>३४</sup>

जैनदर्शन में जहाँ ‘चारित्तं खलु धम्मो’ कहकर शुद्ध वीतरागभावरूप चारित्र को धर्म कहा गया है, वहीं सम्यग्दर्शन को ‘दंसण मूलो धम्मो’ कहकर धर्म का मूल कहा गया है। सम्यग्दर्शन की प्रधानता मात्र मुनिधर्म के लिए नहीं, अपितु धर्म के प्रारम्भ के लिए भी है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना तो धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता, तब उसकी वृद्धि और पूर्णता की तो सम्भावना ही नहीं है।

### श्रमणाभासों के आगम प्रमाण -

‘जो श्रमणावस्था में भेदसहित नव पदार्थों का यथार्थ श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमण नहीं है, उन्हें धर्म का उद्भव नहीं होता। सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि जिनोक्त आत्मप्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता तो वह श्रमण नहीं है - ऐसा कहा है। भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हों, तथापि वे ‘वस्तुस्वरूप को अयथार्थतया ग्रहण करते हैं वे आगामी काल में संसार में परिभ्रमण करेंगे।<sup>३५</sup>

‘बिना सम्यग्दर्शन के ५ महाव्रत आदि २८ मूलगुण, ८४ लाख

उत्तरगुण, १८ हजार शीलव्रत, २२ परीषहों का जीतना, १३ प्रकार का चारित्र, १२ प्रकार का तप, षटावश्यक, ध्यान व अध्ययन - ये सब संसार के बीज हैं।<sup>३६</sup>

‘बाह्य परिग्रह से रहित होने पर भी मिथ्याभाव के कारण वह परिग्रहरहित नहीं है, उसके कायोत्सर्ग और मौन धारने से क्या साध्य है।<sup>३७</sup>

‘आत्मा को परद्रव्यों का कर्ता माननेवाले भले ही लोकोत्तर हों, श्रमण हों; पर वे लौकिकपने का उल्लंघन नहीं करते। सम्यग्दर्शनयुक्त नग्नरूप को ही निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त है।<sup>३८</sup>

वीतरागभावरूप परिणत मुनिराज की भूमिका में प्रवर्तमान व्रतादिकरूप परिणति वाले निश्चय साधु एवं शरीर की नग्न दिगम्बर दशा आदि पराश्रित भावयुक्त व्यवहार साधु नाम से कहे जाते हैं।

#### व्यवहार साधु के स्वरूपदर्शक आगम प्रमाण -

‘जो पाँच महाव्रतों आदि २८ मूलगुणों को धारण करते हैं और ८४ लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।<sup>३९</sup>

‘जो सातों तत्त्वों का भेदरूप से श्रद्धान करता है, भेदरूप से उसे जानता है तथा विकल्पात्मक भेद रत्नत्रय की साधना करता है; वह मुनि व्यवहारावलम्बी है।<sup>४०</sup>

यद्यपि मुनिराज का मुख्य कर्तव्य तो निजस्वरूप में विश्रान्त रहना ही है, परन्तु जब उपयोग वहाँ स्थिर नहीं रह पाये, तब मुनि की दशा में सहज ही होनेवाले अन्य कर्तव्य इस प्रकार होते हैं - ‘मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक निम्नांकित १३ क्रियाओं की भावना करना। जैसे - पंच नमस्कार, षड् आवश्यक, चैत्यालय में प्रवेश करते समय तीन बार ‘निःसही’ शब्द का उच्चारण और चैत्यालय से बाहर निकलते समय तीन बार ‘असही’ शब्द का उच्चारण। अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति

और तीन गुप्ति - यह तेरह प्रकार का चारित्र ही तेरह क्रियाएँ हैं।<sup>४१</sup>

‘जो मुनि आहार, उपकरण एवं आवास को शोधकर सेवन नहीं करता है; वह मुनि गृहस्थपने को प्राप्त होता है और लोक में मुनिपने से हीन कहलाता है। जो साधु मैत्री भावरहित है, वह मोक्ष का चाहनेवाला होने पर भी मोक्ष को नहीं पा सकता।<sup>४२</sup>

‘जो साधु का लिंग धारण कर गाना गाता है, बाजा बजाता है, तीव्र मान से गर्वित होकर निरन्तर वाद-विवाद करता है तथा भोजन में रसगृद्धि करता है। मायाचारी करता है। आहार के लिए दौड़ता है, उसके निमित्त से कलह करता है, ईर्यापथ शोधे बिना दौड़ते हुए अथवा उछलते हुए चलता है। महिला वर्ग में राग करता है और दूसरों में दोष निकालता है। गृहस्थों व शिष्यों में अति स्नेह रखता है, स्त्रियों पर विश्वास करके उनको दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रदान करता है, उनको सम्यक्त्व बताता है, इत्यादि अनेक प्रकार के दूषण को लगाता है, वह नरक का पात्र है, भावों से विनष्ट हुआ वह पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट है, साधु नहीं है।<sup>४३</sup>

‘जो मोह से अथवा प्रमाद से जितने काल तक लौकिक क्रिया करता रहता है, वह उतने काल तक आचार्य नहीं है और अन्तरंग में व्रतों से च्युत भी है।<sup>४४</sup>

‘शुभोपयोग की क्रियाओं में अधिक वर्तन करना साधु को योग्य नहीं, क्योंकि वैयावृत्त्यादि शुभ कार्य गृहस्थों को प्रधान है और साधुओं को गौण।

मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, वैद्यक, वशीकरण, उच्चाटन आदि करना; मंत्र सिद्धि, शस्त्र, अंजन सर्प आदि की सिद्धि करना तथा आजीविका करना साधु के लिए वर्जित है।

लौकिकजन, तरुणजन, स्त्री, पशु आदि की संगति करना निषिद्ध है। आर्यिका से भी सात हाथ दूर रहना योग्य है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों की संगति वर्जनीय है।

मात्रा से अधिक पौष्टिक व गृद्धतापूर्वक, गृहस्थ पर भार डालकर

भोजन करना वर्जनीय है।

‘स्वच्छन्द व एकल विहार करना इस काल में वर्जित है।<sup>४५</sup>’

‘निश्चय मुनि और व्यवहार मुनि ऐसे मुनि दो अलग-अलग व्यक्ति नहीं है। एक ही मुनि में वीतरागता और सरागता की अपेक्षा निश्चय मुनि और व्यवहार मुनि ऐसे दो भेद होते हैं। इन्हीं द्विरूप परिणतियों की अपेक्षा से ही मुनिराज के सराग-वीतराग भेद जिनागम में उपलब्ध हैं।

**निश्चय-व्यवहार चर्या का समन्वय** – जो मुनिराज सदा तत्त्वविचार में लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का आराधन करना जिनका स्वभाव है और जो निरन्तर धर्मकथा में लीन रहते हैं अर्थात् यथा अवकाश रत्नत्रय की आराधना व धर्मोपदेशादि रूप दोनों प्रकार की क्रियाएँ करते हैं; उन्हें निश्चय मुनि कहते हैं।<sup>४६</sup>

‘जो श्रमण अन्तरंग में तो सदा ज्ञान व दर्शन आदि में प्रतिबद्ध रहते हैं और बाह्य में मूलगुणों में प्रयत्नशील होकर विचरण करते हैं, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।<sup>४७</sup>’

निश्चय व्यवहार के समन्वय रूप से मुनिराज की भूमिका में विद्यमान आन्तरिक वीतराग परिणति की अपेक्षा से उन्हें वीतरागी एवं प्रशस्तराग की अपेक्षा से उन्हें ही सराग संयमी मुनि कहा जाता है। ध्यान रहे, ये सराग-वीतराग परिणाम मिश्रभावरूप हैं और वीतरागता की परिपूर्णता तक पाये जाते हैं। वीतरागी और सरागी मुनि दो अलग-अलग व्यक्ति नहीं हैं।

मुनिराज पूर्ण वीतरागी तो होते हैं; परन्तु पूर्ण सरागी अवस्था को मुनि संज्ञा प्राप्त नहीं है।

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि आत्मा का जितना अंश वीतराग है, उससे संवर-निर्जरा और जितना अंश सराग है, उससे आस्रव-बन्ध है। इस सन्दर्भ में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का निम्न उल्लेख विचारणीय है –

‘येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

आत्मा में जिस अंश में वीतराग चारित्र है, उस अंश में बन्ध नहीं है, तथा जिस अंश में राग है, उस अंश में इसके बन्ध होता है।<sup>४८</sup>

सराग-वीतराग चारित्र का फल दर्शानेवाले ये आगम उल्लेख भी दृष्टव्य है – “जो दर्शनशुद्धि से विशुद्ध है, मूलादि गुणों से संयुक्त है, अशुभराग से रहित हैं तथा व्रत आदि से संयुक्त है; वह सराग श्रमण है।<sup>४९</sup>’

‘जब यह आत्मा, धर्मपरिणत स्वभाववाला होता हुआ शुद्धोपयोग परिणति को धारण करता है, तब तो विरोधी शक्ति से रहित होने के कारण अपना कार्य करने के लिए समर्थ है – ऐसा चारित्रवान होने से, वह साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है और जब वह धर्मपरिणत स्वभाववाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है; तब जो विरोधी शक्तिसहित होने से स्वकार्य करने में असमर्थ है और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला है – ऐसे चारित्र से युक्त होने से, जैसे अग्नि से गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्य पर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलन से दुःखी होता है, उसी प्रकार यह स्वर्ग-सुख से बन्ध को प्राप्त होता है, इसलिए शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।<sup>५०</sup>’

आशय यह है कि मुनिराज की भूमिका में सराग चारित्ररूप कमजोरी तो हो सकती है, परन्तु उसे उपादेय माननेरूप मिथ्याभ्रान्ति नहीं। कमजोरी की स्थिति में वे सराग संयमी कहे जाएँगे, परन्तु उसे उपादेय मानने की स्थिति में मिथ्याभ्रान्ति के कारण उन्हें भावों में मुनिपना नहीं रहेगा।

**निक्षेप की अपेक्षा मुनि के चार भेद**

निक्षेप की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद हैं – १. नाम श्रमण, २. स्थापना श्रमण, ३. द्रव्य श्रमण और ४. भाव श्रमण।

‘इनमें भाव श्रमण ही श्रमण है, क्योंकि शेष श्रमणों को मोक्ष नहीं



है। इसलिए दो प्रकार के परिग्रह को छोड़कर भाव से सुसंयत हों।<sup>५१</sup>

### नट श्रमण एवं सदोष श्रमण -

‘जो धर्म में निरुद्यमी है, दोष का घर हैं, गुण के आचरण से रहित है; वह नग्नरूप नग्न भेषधारी नट-श्रमण हैं।<sup>५२</sup>’

अन्तरंग में मिथ्यात्व-रागादि से जिसके परिणाम कलुषित हैं और बाह्य में नग्न दिगम्बर वेष धारण करके जो उस पद के अनुरूप आचरण नहीं करता और अपनी स्वच्छन्द वृत्तियों से जिनशासन को कलंकित करता है, वह सदोष श्रमण है।

**श्रमण के पाँच भेद -** १. पार्श्वस्थ, २. कुशील, ३. संसक्त, ४. अवसन्न और ५. मृगचरित्र/स्वच्छन्द। पाँचों प्रकार के सदोष मुनि स्वच्छन्दचारी जैनधर्म में दोष लगानेवाले होते हैं। आचार्य के उपदेश को छोड़कर एकाकी रहते हैं, धैर्य से रहित होते हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप विनय और श्रुत ज्ञान से सर्वथा दूर रहते हैं। सच्चे मुनि और सज्जनों के दोष देखने में ही निपुण होते हैं, इसलिए वे अवन्दनीय हैं।

‘बुद्धिमान पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से, किसी भय से इन पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वन्दना कभी नहीं करना चाहिए, न विनय करना चाहिए। जो इनकी विनय करता है, उसको कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता।<sup>५३</sup>’

‘जो जानते हुए भी लज्जा, गारव और भय से उनके पैरों पड़ते हैं, उनके भी बोधि अर्थात् रत्नत्रय नहीं है। कैसे हैं वे जीव? पाप की अनुमोदना करते हैं। पापियों का सन्मानादि करने से उन्हें भी उस पाप की अनुमोदना का फल लगता है।<sup>५४</sup>’

इनकी विशेष जानकारी के लिए मूलाचार मूलतः पठनीय है।<sup>५५</sup>

मुनिराज के भेद-प्रभेदों से हमें उनकी अभ्यन्तर वीतराग परिणति के साथ-साथ उनकी बहिरंग परिणति की अनेक विशेषताओं का परिज्ञान होता है, जिससे हमें सच्चे मुनियों के प्रति विशेष भक्ति का भाव जागृत होता है, मुनिधर्म अंगीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है; साथ ही सदोष

श्रमणों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का ज्ञान हमें उनसे दूर रहने हेतु तो प्रेरित करता ही है, यह दिशा निर्देश भी करता है कि यदि गृहस्थ श्रमणधर्म अंगीकार करे तो उपर्युक्त बुराइयों से बचना होगा। ॐ नमः।

श्रोता ने साधु परमेष्ठी की विशेषताओं के साथ द्रव्यलिंगियों के भेद-प्रभेद, उनके गुण-दोष तो जाने ही, साथ ही भावलिंगी मुनिराजों में भी अनेक प्रकार होते हैं, यह जानकर सभी श्रोता मंत्रमुग्ध थे। उन्होंने ऐसे

प्रवचन पहली बार ही सुने थे।

१. भावपाहुड़, गाथा ५६
२. मूलाचारवृत्ति, १०/११०
३. भावपाहुड़, गाथा ५९
४. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, ४१
५. मूलाचारवृत्ति, १०/११०
६. भावपाहुड़, २, ६, ७, ४८, ५४, ५५
७. भावपाहुड़, गाथा-७४
८. भावपाहुड़, गाथा १००
९. भगवती आराधना, ७७०
१०. रयणसार, गाथा ८७
११. राजवार्तिक, ९/४६
१२. धवला १/१७७
१३. समयसार, ४०८-४१०
१४. मूलाचार, ९००
१५. भावपाहुड़, ७२
१६. समाधिशतक, श्लोक ८
१७. योगसार, गाथा-५
१८. भावपाहुड़, गाथा ९०
१९. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, ४१४
२०. मोक्षमार्गप्रकाशक, ९/४६२
२१. सूत्रपाहुड़, गाथा-२३
२२. सूत्रपाहुड़, गाथा १०
२३. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, ४१४
२४. परमात्मप्रकाश टीका २/५२
२५. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३१३
२६. मोक्षमार्गप्रकाशक ७/२४७
२७. मोक्षमार्गप्रकाशक, २४७-४८
२८. समयसार, ४१०-४११
२९. समयसार, गाथा ४११
३०. प्रवचनसार, गाथा २४१
३१. नियमसार, गाथा ७५
३२. मूलाचार, गाथा १०००
३३. धवला, ८/१, १, १/५१/१
३४. पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, ६६८-६७४
३५. प्रवचनसार, ९१, २६४, २७१
३६. रयणसार, गाथा १२७
३७. मोक्षपाहुड़, गाथा ९७
३८. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, ४/४०६
३९. धवला १/१, १, १/५ १/२
४०. तत्त्वार्थसार, ९/५
४१. भावपाहुड़, ७८/२२९/११
४२. प्रवचनसार, गाथा २४१
४३. लिंगपाहुड़, गाथा ३-२०
४४. पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, गाथा ६५७
४५. जैनेन्द्र सिद्धान्त ४/४०५-४०६
४६. रयणसार, ११, ९९
४७. प्रवचनसार, गाथा २१४
४८. श्लोक २१४
४९. नयचक्र वृहद, ३३०-३३१
५०. प्रवचनसार, गाथा ११ की टीका
५१. मूलाचार, गाथा १००३-१००४
५२. गाथा-७१
५३. मूलाचार, ७/१५-१६
५४. मूलाचार प्रदीप, गाथा १६६-१७८
५५. दर्शनपाहुड़, गाथा १३



उत्तर भारत तीर्थकरों की जन्मभूमि तो है ही, यहाँ अतिशय क्षेत्र भी सर्वाधिक हैं। अतिशय का अर्थ कोई चमत्कार-विशेष नहीं, बल्कि यहाँ अतिशयकारी ऐसे-ऐसे विशाल चित्ताकर्षक-कलापूर्ण जिनबिम्ब हैं, जिनके दर्शन कर दर्शनार्थी आश्चर्यचकित होता है। ये ही मुख्यतः यहाँ के अतिशय हैं। संभव है, स्थानीय स्तर पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कभी कोई घटनायें हुई हों, पर आज उनका कहीं/कोई अस्तित्व नहीं है। वे केवल किंवदन्तियाँ बनकर ही रह गई हैं। अस्तुः।

यहाँ के श्रावक-श्राविकाओं में बाह्याचार भी कुछ अधिक ही है। इन कारणों से दक्षिण भारत के मुनियों का भी विहार यहाँ (उत्तर भारत) में होता ही रहता है।

देवगढ़ का चातुर्मास समाप्त हुआ। मुनिसंघ ने वहाँ से प्रस्थान कर अतिशय क्षेत्र थूवोनजी, खन्दारगिरी - चन्देरी, विशाल तीर्थक्षेत्र पपौराजी, आहारजी, सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि, सिद्धक्षेत्र नैनागिरि, प्रसिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर, अपनी कलाकृति के लिए प्रसिद्ध क्षेत्र खजुराहो आदि आस-पास के अतिशय क्षेत्रों की वन्दना करता हुआ एवं तत्त्वज्ञान की रिम-झिम वर्षा से धर्म पिपासुओं की प्यास बुझाता हुआ, कषायों की प्रज्वलित ज्वाला को शान्त करता हुआ वही मुनिसंघ सेरोनजी (शान्तिनाथ दि. जैन अतिशय क्षेत्र) पहुँचा। वहाँ विराजित १००८ भगवान शान्तिनाथ की १८ फुट उत्तंग, अत्यन्त मनोहारी मूर्ति के दर्शन कर मुनि संघ ने परम शान्ति का अनुभव तो किया ही साथ ही लगभग २९ भव्य प्राचीन जैन मन्दिर तथा नवनिर्मित एक मनोहारी वर्तमान चौबीसी के दर्शनों से भी मन मुद्रित हो

गया। इनके सिवाय आस-पास की जमीन में खुदाई में उपलब्ध खण्डित मूर्तियों का एक पुरातत्वीय विशाल संग्रहालय भी दर्शनीय है।

वैसे तो प्रायः सभी तीर्थ क्षेत्र नगरों से न अति दूर हैं और न अति निकट। इसकारण तीर्थों का वातावरण प्रायः शान्त और एकान्त रहता है। इसीकारण साधु-संतों को आत्म-साधना और प्रभु आराधना के अनुकूल भी रहता है। सेरोनजी भी इन्हीं सब विशेषताओं के कारण मुनिसंघ को चातुर्मास के लिए उपयुक्त लगा।

शान्ति के सिंधु, समता के पुंज, निर्वाण के वांछक, अध्यात्म एवं आनन्द की विद्या के आराधक, धर्म के भूषण मुनिराजों के दर्शन और उनका सान्निध्य पाकर कौन धर्मात्मा धन्य नहीं होगा? अपने मानव जीवन को कौन सार्थक नहीं करना चाहेगा?

देवगढ़ में चातुर्मास के समय मुनिसंघ के द्वारा प्रवाहित ज्ञानगंगा में डुबकियाँ लगाने से तत्त्वज्ञान की वर्षा से कषायाम्नि की तपन बुझाने एवं शीतलता प्राप्त करने का आशातीत लाभ तो मिला ही, तत्त्वज्ञान की शीतल हवाओं की ठंडक तथा सदाचार के सुमनों की सुगंध भी दूर-दूर तक फैल गई? इस कारण अगला चातुर्मास कहाँ होगा? किन्हीं यह सौभाग्य प्राप्त होगा? यह जिज्ञासा जन-जन के हृदयों को आन्दोलित कर रही थी; पर सेरोनजी को यह सौभाग्य सहज प्राप्त हो गया।

उपर्युक्त सभी तीर्थों के कार्यकर्ताओं की भावना थी कि मुनिसंघ हमारे तीर्थ पर ही अगला चातुर्मास करे, परन्तु चाहने से क्या होता है? होता तो वही है जो क्रमबद्धपर्याय के अनुसार पहले से ही सुनिश्चित होता है। मुस्लिम धर्म में भी ऐसा ही कहा है कि - 'होता वही है जो मंजूरे खुदा होता है।' तथा हिन्दु धर्म इसी बात को ऐसे कहता है कि - 'हुइये वही जो राम रचि रखा।' चूँकि वे ईश्वरवादी धर्म हैं अतः खुदा की मर्जी और ईश्वर की रचना पर छोड़ अपने कर्तृत्व के अहंकार एवं मद

से बच जाते हैं, जबकि अकर्तावादी होकर भी एवं वस्तु स्वातंत्र्य में आस्थावान होकर भी जैन न जाने क्यों स्वयं के कर्तृत्व के भार से निर्भर नहीं हो पाते। सर्वज्ञता को स्वीकार करते हुए भी और उनके अनुसार पर्यायों की क्रमबद्धता को मानते हुए भी अपनी कर्तृत्व की भूल को स्वीकार नहीं कर पाते। अस्तुः।

जैनधर्म के श्रद्धावान यह तो भलीभाँति जानते ही हैं कि मुनिसंघ चातुर्मास स्थापना के लिए न तो किसी का आमंत्रण स्वीकार करते हैं और न किसी से आमंत्रण की अपेक्षा रखते हैं। वे तो अपने भ्रमण में चातुर्मास का काल निकट आने पर जो स्थान निर्विघ्न एवं धर्म साधना के अनुकूल शान्त और एकान्त होता है, वहाँ सहज ही चातुर्मास स्थापित कर लेते हैं।

सेरोन (शान्तिनाथजी) के आसपास रहने वाले श्रावक-श्राविकाओं के भाग्य ने जोर मारा। उनके सौभाग्य से वही मुनिसंघ सेरोनजी में दर्शनार्थ पधारा। यहाँ सर्व प्रकार से आत्मसाधना की अनुकूलता देखकर चातुर्मास करने के लिए दृढ़ संकल्पित हो गया।

चातुर्मास स्थापना के मंगल अवसर पर आचार्यश्री के अपने दायित्व के निर्वाह में संघ के समस्त साधुओं को शिथिलाचार के विरुद्ध आदेश देते हुए कहा - “हे मुनिसंघ के समस्त साधुबृन्द! वैसे तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि सभी साधुओं ने आत्मकल्याण के लिए ही मुनिव्रत के रूप में यह असिधारा व्रत धारण किया है। इसके द्वारा हम सभी कर्मों की जंजीर काटने के लिए ही कटिबद्ध हुए हैं। अतः कोई स्वप्न में ऐसी भूल नहीं करेगा, जिससे पूरे मुनिसंघ को नीचा देखना पड़े तथा वह किसी और संकट में पड़ जाय। फिर भी यदा-कदा कोई छोटी-मोटी भूल अनजाने में हो जावे तो आगम में प्रतिदिन प्रायश्चित लेने का जो विधान है, उस नियम का सब पालन करेंगे।

दिगम्बर मुनि का यथार्थ स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री ने अपने संघ

के सभी मुनिजनों से कहा - “देखो, वीतरागी दिगम्बर मुनि की अन्तर बाह्यदशा परम शान्त होती है। मुनियों के द्वारा २८ मूल गुणों का निर्दोष पालन करना और उत्तरगुणों में मुख्यतः २२ परीषहजय, १० धर्म, १२ तप तथा १२ भावनाओं के द्वारा वैराग्य में वृद्धि के साथ देह में निर्ममत्व भावों की पुष्टि करना आप सबकी दैनिक चर्या के अभिन्न अंग हैं। साथ ही मुनियों की विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों में सुमेरुवत अचल परिणति होती है। निंदा और प्रशंसा तथा शत्रु व मित्र के साथ समभाव एवं भूमिकानुसार होने वाले राग-द्वेष आदि भावों के प्रति उपेक्षावृत्ति होती है।

मुनियों की निर्ग्रन्थता, निस्पृहता और नग्नता आदि कठोर साधना देखकर श्रावकों में मुनियों के प्रति भक्ति उमड़ना स्वाभाविक है; परन्तु इससे मुनिदशा प्रभावित नहीं होती। कोई अश्रद्धालु/ईर्ष्यालु व्यक्ति निन्दा भी कर सकते हैं। दोनों ही परिस्थितियों में साधु समभावी ही रहते हैं।

अकम्पनाचार्य के संघस्थ मुनि श्रुतसागर की भाँति जोश में आकर कोई वैसी घटना को नहीं दुहरायेगा, जिसके कारण ७०० मुनियों का संघ संकट में पड़ गया था।

तत्त्वज्ञानी साधु विकथायें करने, मंत्र-तंत्र-यंत्र एवं ज्योतिष विद्या के द्वारा प्रतिष्ठा पाने या लौकिक प्रयोजन साधने आदि के चक्कर में नहीं पड़ते। हाँ, यदा-कदा किसी को तपश्चरण के फल में मुनि विष्णुकुमार की भाँति कोई मंत्र-तंत्र या विक्रिया ऋद्धि जैसी कोई विद्या सिद्ध हो भी जाये तो वे जीवन भर उसका उपयोग नहीं करते।

मुनि विष्णुकुमारजी को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई थी, परन्तु उन्हें स्वयं को उसका पता ही नहीं था। दूसरों ने आकर बताया कि ‘आपको विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है, आप अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों के संकट को दूर करने में समर्थ हो’, तब कहीं उन्होंने मुनि संघ की रक्षा में उस विक्रिया का उपयोग किया था। उसके फल में भी उन्हें पुरस्कार नहीं,

दण्ड ही मिला था। पूरी दीक्षा छेदकर नई दीक्षा लेनी पड़ी थी। अतः मुनि लौकिक प्रयोजन के हेतु तो कभी भी इन प्रपंचों में नहीं पड़ते।

-- -- --

यद्यपि वरिष्ठ मुनिजन अपने कर्तव्यों के प्रति स्वयं ही सदैव सजग रहते हैं, परन्तु संघ में नव दीक्षित साधु भी तो होते हैं और पूर्व दीक्षितों में भी यदा-कदा शिथिलता हो सकती है। अतः आचार्य अपने दायित्व के निर्वाह हेतु और सम्पूर्ण संघ को सचेत करने के लिए समय-समय पर सामूहिक रूप से संघ को ऐसा उपदेश और आदेश देकर सावधान करते ही रहते हैं। यह बात श्रावक अच्छी तरह जानते हैं। अतः किसी के मन में ऐसा प्रश्न ही नहीं उठा कि संघ के साधुओं को ऐसा आदेश व उपदेश क्यों दिया गया?

सभी साधुओं ने अपने मन में आचार्यश्री के उपदेश एवं आदेश के अनुसार ही अपनी निर्दोष चर्या पालन करने का संकल्प किया।

आचार्यश्री द्वारा दिए गए मुनियों के कर्तव्यों एवं आध्यात्मिक उपदेश को उपस्थित श्रावकों एवं विद्वतवर्ग ने भी सुना। श्रावकगण तो साधुओं के कर्तव्यों को सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुए ही, विद्वानजन भी मुनिसंघ के कठोर अनुशासन-प्रशासन तथा निर्दोष चर्या देखकर गद्गद हो गये; क्योंकि ऐसे रत्नत्रय का निर्दोष पालन करनेवाले मुनिसंघ को श्रोताओं ने पहली बार ही देखा था।

मुनिसंघ की चारों ओर से प्रशंसा सुनकर उस सभा में एक अध्यात्म रसिक वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध विद्वान पण्डित श्री विद्याभूषणजी शास्त्री भी पधारे थे। पण्डितजी भी इस संघ के आचार्यश्री की आध्यात्मिक रुचि और उनके निर्विवाद व्यक्तित्व से पहले से ही सुपरिचित थे। अतः उनका यहाँ आना आकस्मिक नहीं था। आचार्यश्री ने शास्त्रीजी के यहाँ आने के पहले शास्त्रीजी को याद भी किया था। अतः आचार्यश्री मुस्करा कर बोले - “पण्डितजी आपकी उम्र लम्बी है, मैंने याद किया और आप

आ धमके।” पण्डितजी ने मुस्करा कर कहा - “आपका आध्यात्मिक प्रेम मुझे सहज ही खींच लाया। यद्यपि मेरा स्वास्थ्य इस लायक नहीं है, फिर भी न जाने कौनसी शक्ति मुझे यहाँ ले आई।

आचार्य श्री गुण-ग्राही थे, अतः विद्वानों को यथायोग्य आदर देते थे। वे पण्डितजी के गहन चिन्तन, तत्त्वज्ञान की गहरी पकड़, सरल-सुबोध शैली में लेखन आदि से तथा समाज में पण्डितजी को प्राप्त प्रतिष्ठा से परिचित और प्रभावित थे। अतः आचार्यश्री ने पण्डितजी को अग्रिम पंक्ति में बैठनेको कहा।

-- -- --

खादी की धवल धोती, कुर्ता और टोपी पहने दुबले-पतले विद्वान पण्डित विद्याभूषण शास्त्री का अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक था। आचार्यश्री ने उस सरस्वती के पुत्र, आध्यात्मिक प्रवक्ता, सरल स्वभावी पण्डित विद्याभूषणजी शास्त्री से भी चातुर्मास स्थापना समारोह की सभा को संबोधित करने के लिए कहा।

आचार्यश्री का आदेश पाकर पण्डितजी ने स्वयं को धन्य माना और आदेश पालन हेतु सभा को सम्मानपूर्वक सम्बोधित करते हुए कहा - “धन्य है ऐसी मुनिदशा! जिन्हें मुक्त होना है, उन्हें ऐसा मुनिव्रत अंगीकार करना ही होगा, क्योंकि मुनि हुए बिना मुक्ति नहीं होती।

मैं स्वयं निरन्तर ऐसी भावना भाता हूँ कि -

“कब धन्य सुअवसर पाऊँ जब निज में ही रम जाऊँ।”

तथा -

“धरकर दिगम्बर भेष कब अठबीस गुण पालन करूँ।”

मैं आचार्यश्री के आदेश का पालन कर आगम की साक्षीपूर्वक मुनि के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए मुनिधर्म की महिमा में जो कुछ कह सकूँ, उसे ध्यान से सुनें और हृदयंगम करें तथा अपने जीवन में ऐसा मुनिव्रत धारण करने की भावना भायें।

“धर्मी श्रावक मुनिराज की अद्भुत दशा को पहचानते हैं; क्योंकि उन्होंने स्वयं भी मुनियों जैसी वीतरागी शान्ति का आंशिक स्वाद चखा है। मुनियों की शान्ति की तो बात ही क्या कहें? उन्हें तो मात्र संज्वलन कषाय शेष रह गई है। अब तो वे केवलज्ञान के बिल्कुल समीप ही पहुँच गये हैं, संसार के कोलाहल से दूर चैतन्य की शान्ति में ठहरकर बर्फ जैसे शीतल हो गये हैं।

आत्मा के आनन्द में झूलते हुए सन्तों ने स्वानुभव में गोते लगाते लगाते यह बात लिखी है। इस पंचम काल में कुन्दकुन्द जैसे मुनि हुए। पंच परमेष्ठी में जिनका स्थान है, वे कुन्दकुन्द आदि मुनिराज जब इस भरतक्षेत्र में विचरते होंगे, उस समय तो ऐसे लगते होंगे, मानो चलते-फिरते सिद्ध ही हैं।

भगवतीआराधना के कवच अधिकार में मुनिराज के समाधिमरण की दशा का अद्भुत वर्णन है। किसी सन्त को कदाचित् सहज प्रमाद से आहार की अथवा जल की वृत्ति उत्पन्न हो तो अन्य सन्त कहते हैं कि ‘अनन्त बार भोजन-पानी ग्रहण किया है, अब तो उसकी वृत्ति का परित्याग करके अन्तर के आनन्द के अनुभव में उतरो! चैतन्य की आराधना करो, अन्दर में डुबकी लगाकर चैतन्य को आराधो, ऐसा समाधिमरण करो कि जिससे फिर से अवतार न हो।’ तब समाधिस्थ मुनिराज भी आहार आदि की वृत्ति का विकल्प त्यागकर स्वरूप में लीन हो जाते हैं। मुनि की ऐसी आराधना अन्तर स्वभाव के आश्रित होती है।

मुनिराज को प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का भी अभाव हो चुका है, इस कारण वे सहजरूप से दिगम्बर होते हैं; वे अन्तरधाम की तैयारी करते हैं। उनको देह, मोर-पिच्छी और कमण्डलु मात्र परिग्रह होता है।

ऊपर आकाश और नीचे धरती उनके उड़ौना-बिछौना होते हैं। उनके रोम-रोम से वैराग्य रस झरता है। उन्हें स्वरूप में विशेष लीनता

वर्तती है। उनके विषय-कषाय की आसक्ति छूट गयी है। दुःश्रुति का श्रवण छूट गया है; दिव्यध्वनि के अनुसार रचित शास्त्रों के श्रवण का विकल्प उत्पन्न होता है। अशुभ से तो संपूर्ण निवृत्ति हो ही गयी है।

कुदेव और उनके माननेवालों से सम्पर्क छोड़ दिया है तथा सर्वज्ञ के कहे हुए मार्ग में ही मुनियों का उपयोग वर्तता है। वीतरागी सन्त-मुनिवरो को वीतरागता बढ़ गयी है, इसलिए अशुभपरिणाम छूट गये हैं। वीतरागी मार्ग में कहे गये पंच महाव्रतादि के शुभ विकल्प होते हैं।

समस्त जैन समाज के व्यक्ति प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही ‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ कहकर सर्व नग्न दिगम्बर रत्नत्रयधारी मुनिवरो को नमस्कार करते हैं।

“जिन्हें अन्दर में आत्मा का भान हो और जो चारित्रदशा में आत्मा के परमआनन्द के घूँट पीते हों तथा अत्यन्त दिगम्बर दशा हो, ऐसे मुनि तो परम पूज्य हैं। उन्हें कौन ज्ञानी गुरु नहीं मानेगा? सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा बिना तो व्यवहार सम्यग्दर्शन ही नहीं होता। अतः इसमें गड़बड़ नहीं चल सकती। जिसे भवदुःख से छूटना हो और आत्मा का मोक्षसुख अनुभवना हो, उसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा अनिवार्य है।

वीतरागी साधु तो अन्तरस्वभाव के अनुभव द्वारा ज्ञान के प्रकाशक हैं। उन्हें सम्यग्ज्ञान का प्रकाश झलक रहा है, वे सहज सुख के सागर हैं और वीतरागरस से भरपूर हैं। मुनि तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणोरूपी रत्नों से भरपूर रत्नाकर हैं। सुगुणों के समुद्र हैं। धर्मीजीव उन्हें पहचानकर नमस्कार करते ही हैं।

“मुनिराज, वीतराग धर्म के भूषणस्वरूप हैं, पाप का खण्डन करनेवाले हैं। यथार्थ धर्म का उपदेश देते हैं, इसलिए धर्म को शोभित करनेवाले हैं और मिथ्यात्व का नाश करनेवाले हैं। परमशान्तभाव द्वारा ही कर्मों का नाश करते हैं। ऐसे मुनिवर जो पृथ्वीलोक में विराजमान हैं, उन्हें पहचानकर पण्डित बनारसीदासजी ने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया है,

वे कहते हैं - “अहो! जगत् के शिरोमणि मुनि-भगवन्तों से तो जगत् सुशोभित है, वे वन्दनीय हैं। मुनिराज तो सर्वज्ञ के बड़े पुत्रवत् उनके उत्तराधिकारी हैं।”

अपने अनुभव की साक्षीसहित मुनिराज कहते हैं कि “मैं ऐसे आनन्द का अनुभव करता हूँ और तुमको भी ऐसे आनन्द का अनुभव करने के लिए आमंत्रित करता हूँ। इसलिए तुम उस अनुभव को प्रगट करके अपनी चैतन्य सम्पदा को प्राप्त करो।

अरे भाई! सुख की सम्पदा चेतन में होगी या जड़ में? चेतन आत्मा स्वयं ही सुख-सम्पदा से परिपूर्ण है, चैतन्य-सम्पदा में कोई विपदा नहीं है। मान-अपमान के विकल्प अथवा निन्दा-प्रशंसा के शब्द उसमें प्रवेश नहीं कर सकते। चैतन्यतत्त्व ऐसा नहीं है कि जो मान मिलने से फूल जाए और अपमान होने पर कुम्हला जाए। तेरा चैतन्यतत्त्व तो सदा आनन्दमय है, जो मुनिराज ऐसे आनन्दमय अनुभव करने को कहते। धन्य हैं वे मुनिराज! उनको हमारा सौ-सौ बार नमन है।”

वीतरागी सन्तों के नाद से आत्मा डोल उठता है और स्वभाव के पन्थ में चढ़ जाता है। जिसे आत्मा को साधने की छटपटाहट है, सन्त उस आत्मा का उल्लास उत्पन्न करते हैं। “अरे जीव तू जाग रे जाग! तेरे चैतन्य में अपूर्व सामर्थ्य है, उसे तू सम्हाल!” सन्तों का ऐसा नाद सुनते ही श्रावकों का आत्मा उल्लास से जाग जाता है और उपयोग को अन्तरोन्मुख करके वह आत्मा का अनुभव कर लेता है।

मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष को साध रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्र्यदशा द्वारा ही मोक्ष सधता है, दिगम्बर साधु साक्षात् मोक्ष का मार्ग हैं। अन्तर के चिदानन्द स्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पंच परमेष्ठियों में जिनका स्थान है, ऐसे मुनियों की महिमा की क्या बात कहें। ऐसे मुनि का दर्शन प्राप्त होना भी महान आनन्द की बात

है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणों में नमते हैं। धन्य है वह मुनिधर्म!

मुनियों के आत्मा की अन्तर्दशा अलौकिक होती है, वह भी पहचानी जा सकती है और ऐसी पहचान करके आचार्य अमृतचन्द्र उसका वर्णन करते हैं - देखो तो सही! उन्हें कितना बहुमान है? जो स्वयं भी मुनि हैं, वे अन्य मुनिराज को पहचान कर कहते हैं कि अहो! “कुन्दकुन्दस्वामी तो संसार के किनारे पहुँच गये हैं और मोक्ष में पहुँचने की तैयारी में हैं, उन्हें सातिशय विवेक ज्योति प्रगट हुई है, अनेकान्तरूप वीतरागी विद्या में वे पारंगत हैं, समस्त पक्ष का परिग्रह छोड़कर मध्यस्थ हैं, स्वयं ने पंच परमेष्ठी के पद में बैठकर मोक्षलक्ष्मी को ही उपादेय किया है। बीच में शुभराग आ पड़े, उसे कषायकण समझकर हेय किया है। इस प्रकार वे मोक्षमार्गरूप परिणत हुए हैं।”

जगत् में सहज चैतन्यतत्त्व को भानेवाले, अनुभव करनेवाले सन्त-धर्मात्मा श्रेष्ठ हैं। उन्हें जगत् की स्पृहा नहीं है, इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति भी जिन्हें नगण्य है। सहज चैतन्यतत्त्व से उत्कृष्ट वैभव जगत् में दूसरा नहीं है - ऐसे चैतन्य तत्त्व की भावनावाले सन्तों को हम प्रणाम करते हैं।

जैसे पिता परदेश जाकर आवें, तब बालकों के लिए उपहार लाते हैं; उसीप्रकार अपने धर्मपिता कुन्दकुन्दाचार्य विदेहक्षेत्र जाकर भरतक्षेत्र के बालकों के लिए शुद्धात्मा के आनन्द का उपहार लाये हैं। वह इस समयसार द्वारा हमें शुद्धात्मा रूप समयसार देते हैं और कहते हैं - “तू उसे स्वानुभवगम्य कर!” वीतरागी गुरु तो वीतरागमार्ग का ही उपदेश देते हैं।

देखो! मुनिराज तो सीधे सिद्धों से बातें करते हैं। कहते हैं - “प्रभु! तेरे जैसा मेरा स्वभाव मैंने अपने में अनुभव किया; इसलिए मैं तेरे समीप ही हूँ, तुझसे जरा भी दूर नहीं हूँ।”

चारित्र्यवन्त मुनियों के चित्त में निज परम आत्मतत्त्व ही बसता है, परमतत्त्व के अतिरिक्त कोई रागादि परभाव उनके चित्त में नहीं बसते। जिनकी ज्ञानपर्याय में परमात्मा बसते हैं, ऐसे मुनि को मोक्षसुख का कारणरूप चारित्र होता है। उन्हें मैं बारम्बार नमता हूँ।

मुनिराज को ज्यों-ज्यों आत्मध्यान की शक्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों व्यवहार छूटता जाता है। मुनिराज को इतनी शुद्धि तो प्रगट ही है कि अन्तर्मुहूर्त से अधिक उपयोग बाहर रहता ही नहीं। विकल्प आते हैं; परन्तु उनमें तन्मयता नहीं होती। पुरुषार्थ की कमजोरी से व्यवहार में आना पड़ता है, लेकिन भावना तो बारम्बार शुद्धस्वरूप में स्थिर होने की ही रहती है। विकल्प के प्रति खेद वर्तता है।

प्रतिकूल संयोगों में मुनि को देखकर जो जीव मुनि को दुःखी मानते हैं, उन्हें चारित्रदशा में होनेवाले सुख की खबर नहीं है। मुनि के शरीर को सिंह फाड़कर खा रहा हो, उसे देखकर अज्ञानी उन्हें दुःखी मानते हैं, जबकि मुनि तो परम शान्ति में हैं। वे आत्मा के आनन्द में झूलते हैं, उन्हें दर्द तो होता होगा, पर उपयोग बाहर आने पर भी उन्हें दुःख नहीं है, क्योंकि मुनिराज संयोग से दुःख नहीं मानते।

ज्ञानी श्रावक को भी राग आता है और वह मुनि का उपसर्ग दूर करने का प्रयत्न करता है। मुनि को बचाने के प्रयोजन में सिंह को तलवार लग जाए, तब भी वहाँ सिंह को मारने का अभिप्राय नहीं होने से तथा मुनि को बचाने के प्रसंग में ऐसा भी हो सकता है कि बचानेवाला और मारनेवाला दोनों ही मर जावें; परन्तु बचाने के भाव वाला स्वर्ग में जाता है और मारने के भाव वाला नरक में जाता है।

देव-गुरु के स्वरूप के सम्बन्ध में सत्य-असत्य का विवेक करने में भय रखे तो सत्य समझ में नहीं आ सकता। श्री कुन्दकुन्द आचार्य पंच महाव्रतधारी भावलिंगी सन्त थे। उनके द्वारा कहे हुए वचन सर्वज्ञ-वीतराग के समान ही प्रमाणभूत है।

हमारे परम सौभाग्य से ही हमें ऐसे परम वीतरागी संतों का समागम प्राप्त हुआ है। अतः हम सभी को अधिक से अधिक संख्या में पधारकर मुनि संघ के सान्निध्य का लाभ लेना चाहिये। इतना कहकर मैं विराम लेता हूँ।”

इसप्रकार मुनिधर्म एवं मुनिराजों की महिमा से अभिभूत पण्डितजी का भावभीना उद्बोधन सुनकर मुनिसंघ को ऐसा लगा कि - “क्या यह वही विद्याभूषण शास्त्री हैं, जिसके बारे में अबतक यह सुनते रहे कि पता नहीं क्यों? विद्याभूषण शास्त्री मुनियों का एवं पूजा-पाठ और भक्ति आदि का कट्टर आलोचक हो गया है, बात-बात में बाल की खाल खींचता है; परन्तु इसमें ऐसा तो कुछ भी नहीं है। जैसी भक्तिभाव से पूजा-भक्ति करते इसे देखा, ऐसी भक्ति भावना तो बहुत कम लोगों में देखने में आती है।

मुनिधर्म की महिमा तो इसके मुख से अपने कानों से अभी-अभी सुनी ही है। इस पण्डित की धार्मिक चर्चा व चर्चा तथा बाह्याचार भी किसी भी श्रेष्ठ श्रावक से कम नहीं है - साधु-संतों के बहुमान में भी कोई कमी दिखाई नहीं देती।”

--

--

--

चातुर्मास स्थापना समारोह में मुनिसंघ के सिवाय और भी अनेक ऐसे नवीन श्रोता थे, जो मात्र यह जानने के लिए ही आये थे कि - ‘आजकल विद्याभूषण शास्त्री का मुनियों के प्रति क्या रुख है? कैसा व्यवहार होता है और वे मुनियों के विषय में क्या बोलते हैं; क्योंकि सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में यह अफवाह थी कि - “मात्र आत्मा-आत्मा के गीत गाने वाला यह समयसारी पण्डित पूजा-भक्ति, संयम-साधना, तप-त्याग तथा मुनियों का विरोधी हो गया है।” परन्तु पण्डितजी का उद्बोधन सुनकर और साधर्मियों के प्रति धर्म वात्सल्य देखकर उनका सब भ्रम भंग हो गया और वे पण्डितजी के पक्षधर बन गये।

समारोह सभा के अन्तिम क्षणों में आचार्यश्री ने पण्डितजी को धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देते हुए पुनः कहा - “यथा नाम तथा गुण सम्पन्न

पण्डितजी” के बारे में मुझे परोक्ष रूप से कुछ ऐसे समाचार मिले थे कि “पण्डितजी एकांती हो गये हैं, परन्तु आज जब पण्डितजी से साक्षात्कार हुआ तो मेरा सारा भ्रम भंग हो गया। मैंने जब इन्हें प्रत्यक्ष देखा/सुना तो पाया कि पण्डितजी तो अध्यात्मज्ञान के ऐसे रत्नाकर हैं, जिसमें तत्त्वज्ञान के रत्नों का भंडार तो भरा ही है, साथ ही अन्य अनुयोगों का ज्ञान भी अच्छा है। आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागम तो आपके रोम-रोम में ही समा गये हैं, जहाँ तक संयम का सवाल है सो वह भी भूमिकानुसार बहुत अच्छा है। मैंने इनके उद्बोधन को ध्यान से सुना, इनके कथन से सिद्ध होता है कि उनपर मुनि विरोधी होने का आरोप भी निराधार है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य समन्तभद्र स्वामी के रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार व्यवहार सम्यग्दर्शन में भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का होना अनिवार्य है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के निर्णय का आधार जिनवाणी है। अतः जिनागम की कसौटी पर जो देव-शास्त्र-गुरु खरे उतरेंगे, उन्हें ही तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का भक्त माना जायेगा।

जब उन्हीं समन्तभद्र स्वामी ने देवागम स्तोत्र में सच्चे देव को आगम की कसौटी पर कस डाला तब किसी भक्त को एतराज क्यों नहीं हुआ?

सम्यग्दर्शन का अभिलाषी यदि गुरु को आगम की कसौटी पर कसकर गुरु मानता है तो वह क्या अपराध करता है?

पण्डितजी को ही क्या आप सबको भी परीक्षाप्रधानी तो होना ही चाहिए, अन्यथा आपका भी यह दुर्लभ मानव जीवन अंध श्रद्धा में यों ही बीत जायेगा।

आचार्यश्री ने पण्डितजी को बधाई देते हुए आगे कहा - “मैं पण्डितजी के उज्वल भविष्य की कामना करता हूँ और उन्हें उनके भय, आशा, स्नेह से दूर रहकर वस्तु स्वरूप के निर्णय करने का साहस जुटाने हेतु बधाई देता हूँ। मैं आप सब से भी ऐसी अपेक्षा रखता हूँ कि आप सब भी पण्डितजी की भाँति ही निर्भय होकर सत्य को समझें और इनसे

तत्त्वज्ञान का पूरा लाभ लें।”

आचार्यश्री का अन्तिम उद्बोधन समाप्त ही हुआ था कि एक श्रोता हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसने कहा - “आचार्यश्री! आपने जो कहा - हम उसकी अनुमोदना करते हैं; परन्तु हमारा एक प्रश्न यह है कि “ये पण्डितजी पुण्य कार्य करते हैं, फिर भी पुण्य को हेय क्यों कहते हैं? क्या यह दुहरा व्यक्तित्व नहीं है?”

आचार्यश्री ने दृढ़ता से कहा - “नहीं भाई, ऐसा नहीं है। यदि तुम मेरे सामने भी शास्त्र प्रवचन में समयसार रखोगे तो मुझे भी पुण्य-पाप को हेय ही बताना होगा; क्योंकि पुण्य-पाप-आस्रवतत्त्व हैं और आस्रव संसार का कारण है, ‘दुःखद’ है। इसकारण उसे आगम में भी हेय ही कहा है। हाँ, जब तक आत्मा में स्थिरता नहीं आ पाती, पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हो जाती, तबतक पापभाव से बचने के लिए साधक को पुण्य कार्य या शुभभाव हुए बिना नहीं रहते। एतदर्थ ज्ञानी को भी भूमिकानुसार पुण्य कार्य करना अनिवार्य हो जाता है। इसकारण पुण्य हेय होते हुए भी पुण्य कार्य किये ही जाते हैं।”

हमारे पूर्वज आचार्य भी हमें मुख्यतः तो आत्महित की ही प्रेरणा देते हैं, साथ ही यह भी कहते हैं कि यदि संभव हो तो परहित भी करना चाहिए; परन्तु परहित की तुलना में आत्महित ही सर्वश्रेष्ठ है। उक्तं च -

“आद हिदं कादव्वं, जइ सक्कं परहिदं च कादव्वं।

आद हिद परहिदादो, आदहिदं सुट्टु कादव्वं ॥

अर्थात् आत्महित व परहित में आत्महित ही सर्वश्रेष्ठ है।”

ॐ नमः।

इस प्रकार की प्रेरणा के साथ अन्त में हर्षपूर्वक जिनवाणी की स्तुति एवं मुनिसंघ की जयध्वनि के साथ चातुर्मास स्थापना समारोह सभा विसर्जित हुई और सब अपने-अपने घर प्रस्थान कर गये। ●



## लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
०२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८५ हजार	१२.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	५१ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	१० हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१ (हि.म.गु.क.त.अं.)	३ लाख ६६ हजार २००	२.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (तीन संस्करण)	१३ हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	३ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	५ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (तीन संस्करण)	११ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)	११ हजार	१०.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि	२ हजार	४.००
२२. ये तो सोचा ही नहीं (निबन्ध)	८ हजार	१५.००
२३. जिन खोजा तिन पाइयाँ	३ हजार	१०.००
२४. यदि चूक गये तो	३ हजार	१२.००
२५. समाधि और सल्लेखना	३ हजार	६.००
२६. चलते फिरते सिद्धों से गुरु	५ हजार	१५.००
<b>सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -</b>		
२७ से ३८. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
३९. सम्यग्दर्शन प्रवचन	३ हजार	१५.००
४०. भक्तामर प्रवचन	३५ हजार ४००	१५.००
४१. समाधिशातक प्रवचन	३ हजार	२०.००
४२. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	८ हजार २००	५.००
४३. गागर में सागर (प्रवचन)	२३ हजार ६००	७.००
४४. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	१ लाख ४९ हजार	३.००
४५. गुणस्थान-विवेचन	२५ हजार ५००	२५.००
४६. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	२५ हजार २००	१०.००
४७. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	९ हजार	११.००

## अभिमत

### बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति

‘चलते-फिरते सिद्धों से गुरु’ कृति का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। प्रस्तुत पुस्तक में सम्मानीय लेखक ने सम्पूर्ण विषय वस्तु को अत्यन्त संक्षेप में; किन्तु सारगर्भित रूप से समेटने का अद्भुत कार्य करके बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है, इससे सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को बहुत लाभ होगा।

मुनि की महिमा अद्भुत है। मैं स्वयं विगत माह तक इस विषय पर मंगलायतन पत्रिका के २६ विशेषांक प्रस्तुत कर चुका हूँ। इसमें मुझे स्वयं को तो बहुत लाभ हुआ ही, पाठकों में भी मुनिदशा के प्रति अतिशय महिमा जागृत हुई है। मैं आदरणीय दादाश्री की प्रस्तुत कृति को इस रूप में पाकर अपने को धन्य अनुभव कर रहा हूँ। एतदर्थ लेखक महोदय को मंगलायतन परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

- पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़

### मुनिधर्म का विरोधी तो कोई हो ही नहीं सकता

‘चलते-फिरते सिद्धों से गुरु’ पुस्तक पढ़कर हृदय गद्गद् हो गया। इसमें सरल भाषा में और बोधगम्य शैली में सटीक तथा आगम सम्मत निर्ग्रन्थ गुरु का जो स्वरूप समझाया गया है, वह अपने आप में अद्भुत है, बेजोड़ है।

आज सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को ऐसी सकारात्मक सोच सम्पन्न पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता थी। इससे साधु परमेष्ठी जैसे परम पूज्य पद की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने में मार्गदर्शन तो मिलेगा ही, इस पद की महिमा और आवश्यकता जानकर इस पद को यथार्थ रूप से अपनाने के लिए प्रोत्साहन भी मिलेगा।

वस्तुतः मुनिधर्म का विरोधी तो कोई हो ही नहीं सकता। यदि कहीं से ऐसी कोई गंध आती भी है तो वह मुनिधर्म के विरोध का नहीं; बल्कि मुनियों में आये शिथिलाचार की होती है, जिसे भ्रम से मुनि विरोधी समझ लिया जाता है।

इस सबका समाधान प्रस्तुत कृति में बहुत ही मर्यादा में रहकर सकारात्मक रूप से किया गया है। एतदर्थ लेखक निश्चित ही बधाई के पात्र हैं।

- सुरेशचन्द्र जैन एडवोकेट, बैंगलोर

### और कौन लिख सकता है ?

इतने अत्यावश्यक, गंभीर व संवदेनशील विषय पर सकारात्मक सोच के पूर्ण मर्यादापूर्वक एवं विनयपूर्वक दादा के अलावा और कौन लिख सकता है ?

इस वर्तमान परिस्थिति में 'चलते फिरते सिद्धों से गुरु' काफी समयानुकूल है एवं इस पुस्तक में संपूर्ण विषय छू लिया गया है, वह भी आगम सम्मत एवं पूरी सावधानीपूर्वक, निश्चित ही सराहनीय है।

बड़ी कुशलता से कहानी के रूप में अत्यन्त सरल भाषा-शैली में अन्य आवश्यक विषय भी स्पष्ट हो गये हैं।

आत्मकथ्य में ही लेखक ने स्वयं की निर्ग्रन्थ बनने की भावना भायी है, अतः इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि पुस्तक लिखते समय लेखक की कितनी पवित्र भावना रही होगी, इससे पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ जाता है, पुस्तक का नाम भी बड़ा आकर्षक है, दादा सराहनीय हैं...हम प्रार्थना करते हैं कि उनकी कलम ऐसी ही चलती रहे, जिससे आने वाली पीढ़ी को सही मार्गदर्शन मिलता रहे।

- शुद्धात्मप्रकाश भारिल्ल, जयपुर

### अपूर्व कृति ...

कठिन से कठिन विषय जन-जन की समझ में सुगमता से आ सकें - ऐसी सरल भाषा एवं सुगम रोचक शैली में प्रस्तुत करने की कला में आदरणीय बड़े दादा सिद्धहस्त हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत साहित्य धर्मजिज्ञासु जनमानस को अत्यन्त रुचिकर लगता है। प्रस्तुत कृति 'चलते फिरते सिद्धों से गुरु' भी इसका अपवाद नहीं है।

गुरु का अन्तर्बाह्य जीवन कैसा होता है, इस गंभीर विषय को लेखक ने अत्यन्त कुशलता के साथ आगम के अनुशासन में रहकर निर्भयता एवं निःशंकता से प्रस्तुत किया है। उद्दिष्टआहार की व्याख्या करते हुए लेखक ने जो आगमसम्मत एवं युक्तिसंगत विचार प्रस्तुत किए हैं, वे विशेष रूप से पठनीय हैं।

मानव मन या तो मुनिजीवन को अत्यन्त अद्भुत समझने लगता है और उस भूमिका में संभाव्य प्रवृत्तियों को भी दोष के रूप में देखने लगता है या फिर इतना उदार हो जाता है कि स्थूल शिथिलाचार भी उसकी दृष्टि में नहीं आता।

मुनि का व्यावहारिक जीवन कैसा होता है/आगम के आलोक में इसका विशद/व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत कृति में प्राप्त होता है; इससे जिज्ञासु पाठकों की अनेक शंकाओं का समाधान तो होगा ही; स्वाध्यायी जीवों को सोचने के नये आयाम भी प्राप्त होंगे।

- पीयूष जैन, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम.ए., बी.एड.,  
ए-४, बापूनगर जयपुर-३०२०१५

### मुनिस्वरूप पर बेजोड़ कृति

'चलते-फिरते सिद्धों से गुरु' जैसी कृति की आज के समय में महती आवश्यकता थी। समाज का मुनियों के प्रति सम्मान तो खूब है; परन्तु मुनियों के स्वरूप से समाज अनभिज्ञ है। इस कृति में मुनिपद की महिमा भी बताई गई है और उनके स्वरूप और चर्चा की सांगोपांग चर्चा की गई है।

सरल व सरस भाषा में मुनियों के स्वरूप पर लिखी गई यह बेजोड़ कृति है। पाठकों को मुनियों के स्वरूप का दिग्दर्शन तो इस कृति के माध्यम से होगा ही, मुनिपद धारण करने वालों को भी सुगम राह दिखाने में उपयोगी सिद्ध होगी। प्रस्तुत कृति से लेखक की मुनियों के प्रति सम्यक् श्रद्धा का भान भी पाठकों को होगा।

यद्यपि आज के इस अर्थ प्रधान भौतिक युग में पठन-पाठन के लिए समय निकाल पाना कठिन है, तथापि इस उपयोगी और रोचक कृति के पठन-पाठन से गुरु भक्ति के प्रति पाठकों का बहुमान बढ़ेगा। स्वयं पढ़ें, मित्रों को पढ़ायें।

- अखिल बंसल, एम.ए. (हिन्दी), डिप्लोमा-पत्रकारिता,

सम्पादक-समन्वयवाणी (पाक्षिक), महामंत्री-अ.भा. जैन पत्र सम्पादक संघ

### ऐसी पुस्तक अब तक कहीं देखने में नहीं आई

प्रस्तुत कृति में दिगम्बर संतों के अन्तर्बाह्य स्वरूप को बहुत सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। दिगम्बर संतों की सर्वांगीण चर्चा को एक ही स्थान पर प्रस्तुत करनेवाली यह कृति पचासों ग्रन्थों के सैंकड़ों आगम प्रमाण लेकर निर्मित है।

यह पुस्तक मुनियों की सम्पूर्ण जीवनचर्या, विविध अपेक्षाओं से आगम में उपलब्ध मुनियों के भेद-प्रभेद, उनके मूलगुण, उत्तर गुण आदि का एक ऐसा प्रामाणिक कोश बन गया है, जहाँ पाठक को मुनियों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी एक ही पुस्तक में उपलब्ध हो सके।

जो अष्टपाहुड़ आदि द्वारा मुनिराजों को निर्देश देकर शिथिलाचार से सावधान किया है; वे ही निर्देश वर्तमान मुनिराजों को मार्ग दर्शन के लिये भी पर्याप्त है। संभवतः यह सोचकर ही मानो इस पुस्तक में कहीं भी किसी भी प्रकार के शिथिलाचार की कोई चर्चा नहीं की है। यहाँ तो मात्र विशुद्ध भावना से मुनि जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है। और ही उन्हें चलते-फिरते सिद्ध कहा गया है।

अन्त में यही कहकर संतोष कर रहा हूँ मुनि जीवन का ऐसा सर्वांगीण विशुद्ध चित्रण करनेवाली पुस्तक अब तक देखने में नहीं आई।

- संजीवकुमार गोधा, डबल एम.ए. (जैनविद्या एवं धर्म दर्शन; इतिहास),  
नेट (बौद्ध, जैन, गांधीवादी, शांति अध्ययन), एम.फिल (जैन दर्शन), जयपुर

## तत्त्वज्ञानरहित निर्ग्रन्थ होना निष्फल है

- राष्ट्रसंत सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनि

आचार्य वादीभसिंह ने यहाँ एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी सन्देश हम सबको यह दिया है कि “तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थमपि निष्फलम्।<sup>१</sup> अर्थात् तत्त्वज्ञान के बिना तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनना भी निष्फल है।” अतः हमें कोटि उपाय करके भी सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान अवश्य करना चाहिए। मोक्षमार्ग का हेतु तत्त्वज्ञान अति आवश्यक ही नहीं, अत्यन्त अनिवार्य है। उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही सम्भव नहीं है। तथा यह तत्त्वज्ञान नयज्ञान के बिना नहीं हो सकता, अतः जीवन में नयज्ञान भी अनिवार्य है। समस्त पूर्वाचार्यों ने तत्त्वज्ञान के लिए नयज्ञान की उपयोगिता का सशक्त प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ -

“णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि ।  
तो णयवादे णिवुणा मुणिणो सिद्धंति या होंति ॥  
तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जदिदव्वं ।  
अत्थ गई वि य णय-वाय-गहण-लीणा दुरहियम्मा ॥<sup>२</sup>

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मत से नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भले प्रकार जान लिया है, उसे ही अर्थसम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ के परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवाद रूपी जंगल में दुरधिगम्य अर्थात् जानने के लिए कठिन है।”

आचार्य देवसेन ने भी समयसार को नय-प्रमाणादि रत्नों का विशाल पर्वत बतलाते हुए नयचक्र के ज्ञान की हार्दिक प्रेरणा प्रदान की है। यथा -

जिनप्रतिमतमह्यां रत्नशैलादपापाद् ।  
इह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा ॥  
प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं ।  
श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम् ॥२॥<sup>३</sup>

१. क्षत्रचूडामणि ६/१८, २. षट्खण्डागम १/१/१/६८

३. श्रुतभवनदीपकनयचक्र, पृष्ठ १७

निश्चय से तीर्थंकर भगवान के धर्मरूपी पृथ्वी पर समयसार रूपी पवित्र रत्नमयी पर्वत से विवेकबुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझकर घने मोहान्धकार से रहित सम्यक् नय-प्रमाणादि रत्नों से भरे हुए इस समयसार नामक रत्नपर्वत से व्याप्त श्रुतज्ञान रूपी नंदाद्वीप स्वरूप ‘श्रुतभवनदीपक’ नामवाले नयचक्र को जानो।

प्रमाण का अर्थ है - प्रमाण - प्र = उत्कृष्ट, मा = अन्तरंग लक्ष्मी केवलज्ञान और बहिरंग लक्ष्मी समवशरण, अण् = दिव्यध्वनि ही प्रमाण है।

सारांश यह है कि नयज्ञान के बिना शास्त्रों की एक पंक्ति भी ठीक से नहीं समझी जा सकती, अतः सर्वप्रथम नयज्ञान करना चाहिए और फिर उस नयज्ञान से तत्त्वज्ञान करके सम्यक्चारित्र को धारण करना चाहिए। यही जीव के कल्याण की समीचीन विधि है।

वर्तमान में तत्त्वज्ञान/नयज्ञान की स्थिति बड़ी शोचनीय है। अनेक साधु भी इस कसौटी पर असफल सिद्ध हो के हैं, जबकि साधुओं को तो विशेष रूप से नयों का ज्ञाता होना चाहिए।

वर्तमान में साधु-समुदाय में जितनी भी कमियाँ दिखाई देती हैं, असल में उन सबका मूल कारण तत्त्वज्ञान/नयज्ञान का अभाव है। ज्ञान क्या है, उसके कितने भेद-प्रभेद हैं, उन सबका क्या-क्या स्वरूप है - इतना ही आज हमारे कुछ साधुओं को मालूम नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक लिख दिया है कि जिसके पास मतिज्ञान के चार भेदों (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा) की भी सम्पत्ति है, मैं उसे प्रणाम करता हूँ। यथा -

“उगह-ईहावायाधारणगुणसंपदेहि संजुत्ता ।  
सुत्तत्थभावणाए भावियमाणेहि वंदामि ॥

वे आचार्य परमागम अर्थ की भावना से भाव्यमान - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूपी संपदाओं से संयुक्त होते हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।”

- आचार्यभक्ति, ९

विशेष - अवग्रह का अर्थ आरंभिक ज्ञान है। यह एक तरह का क्रियाशील ज्ञान है।

‘मतिज्ञान चतुर्विधम्’

- लघीयस्त्रय १/५

अतः यदि हमारे साधु नयज्ञान करके तत्त्वज्ञान करने में लग जाएँ और सम्यग्ज्ञान का अंश भी प्राप्त कर लें तो वे पूजनीय-वंदनीय बन सकते हैं। आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द एवं उमास्वामी आदि समस्त मुनिराज भी अपने तत्त्वज्ञान/नयज्ञान के कारण ही परमपूजनीय माने जाते हैं -

धरसेनं मुनींद्रं च पुष्पदन्तसमाह्वयम् ।

जिनचन्द्रं कुन्दकुन्दमुमास्वामिनमर्थये ॥

- आचार्य जयसेन, प्रतिष्ठापाठ ३१६

मात्र दूसरों की चिंता में उलझे रहना ठीक नहीं है। आचार्यों ने परचिंता को अधम से अधम कार्य कहा है - ‘परचिन्ताऽधमाऽधमा’

“जो दूसरों की आत्माओं का उद्धार करते फिरते हैं, वे प्रायः अपनी आत्मा को भूल जाते हैं।” अतः सर्वप्रथम आत्महित करना चाहिए -

आदहिदं कादव्वं जदि सक्कदि परहिदं पि कादव्वं ।

आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्टु कादव्वं ॥

- अनगार धर्माभूत

तात्पर्य यही है कि जीवन में नयज्ञान अनिवार्य है, उसके बिना कुछ भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। महाकवि कालिदास ने भी ‘अर्हत्’ को ‘नयचक्षुषे’ विशेषण देकर सम्भवतः उनके नयप्रमाण-ज्ञातृत्व की ओर संकेत किया है -

“अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ।”-महाकवि कालिदास, रघुवंश १/५५

इससे ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास को भी जैनदर्शन का अच्छा ज्ञान था। वे जानते थे कि नय-व्यवस्था अरिहंतों की, जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रिय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने भी मुझे महाकवि कालिदास का एक श्लोक और बताया है जिससे सिद्ध होता है कि कालिदास जैनदर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने ‘कुमारसम्भव’ में शिवजी के मुख से ऋषियों को निम्नलिखित उपदेश दिलाया है -

“अद्यप्रभृति भूतानामभिगम्योऽस्मि शुद्धये ।

यदध्यासितमर्हद्विस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥”

- महाकवि कालिदास, कुमारसम्भव, ६-५६

आज से मैं उसी की शरण को प्राप्त करता हूँ जो सभी जीवों की शुद्धि के लिए बताया गया है; क्योंकि जो अरिहंतों के द्वारा कहा गया है, वही वास्तव में धर्म तीर्थ है।

प्रस्तुत पुस्तक में पृष्ठ १९ पर मुनिराज कहाँ ठहरते हैं - इस विषय की भी कुछ चर्चा आयी है। वर्तमान में जिनकल्पी साधु नहीं होते, स्थविरकल्पी साधु होते हैं, जिनका स्वरूप इसप्रकार है -

“संहणस्य गुणेण य, दुस्सम कालस्स तह पहावणे ।

पुर णयर गामवासी, थविरे कप्पे ठिया जाया ॥”

- आचार्य देवसेन, भावसंग्रह १२७

इस दुष्म काल में शरीर के संहनन बलवान् नहीं होते हैं, इसलिये वे अनागार किसी नगर, ग्राम व किसी पुर में रहते हैं और अपने तप के प्रभाव से स्थविरकल्पी अनगार कहलाते हैं; क्योंकि वास्तव में साधु को जनपद या जंगल में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता -

“थिरकय जोगाणं पुण, मुणीण ज्झाणेसु णिच्चलमणाणं ।

गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो ॥”

- आचार्य वीरसेन, धवला, वग्ग, पु. १३, ५, ४, २६, पृष्ठ ६७

अर्थ - परन्तु जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है और जिसका मन ध्यान में निश्चल है, ऐसे मुनियों के लिये मनुष्यों से व्याप्त जनपद, ग्राम और शून्य जंगल में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा ही आचार्य शुभचन्द्र ने भी कहा है -

“विजने जनसंकिणो सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।

सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥”

- आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, १६/३४/८५४

अर्थ - जो अनगार ममता को छोड़कर निःस्पृह हो जाता है, वह चाहे जन से शून्य वन स्थान में एकान्त अवस्थित हो और चाहे जनसमुदाय से व्याप्त किसी नगर आदि में अवस्थित हो, तथा इसी प्रकार से वह चाहे दुःख की अवस्था में हो और चाहे सुख की अवस्था में हो; वह सब ही अवस्था में प्रतिबद्ध से रहित होता है - वह सर्वत्र स्वाधीन सुख का ही अनुभव करता है।

### मंगल आशीर्वाद

प्रस्तुत पुस्तक 'चलते-फिरते सिद्धों से गुरु' धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने बड़े ही मनोयोग से और वह भी पूर्णतः आगमानुकूल लिखी है। इसमें भी उन्होंने नयों का सुन्दर विवेचन किया है। वे इसीलिए इतना प्रामाणिक लिख पाते हैं; क्योंकि उनको नयों का विशद ज्ञान है।

नयज्ञान के कारण उनको आचार्यकल्प भी कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वास्तव में उनको इतना अधिक शास्त्रज्ञान है कि जो किसी साधु को ही सम्भव है। उनके ठोस ज्ञान का कारण एक यह भी है कि उन्होंने प्रारम्भ से ही पण्डित गोपालदासजी बरैया द्वारा स्थापित मुरैना विद्यालय में जैनदर्शन के मूल ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया है। वे अत्यन्त सरल स्वभावी और भद्रपरिणामी भी हैं। वे निरन्तर मोक्षमार्ग में आगे बढ़ते रहें - यही मेरा उनको मंगल आशीर्वाद है।

आशीर्वाद

(आचार्य विद्यानन्द मुनि)

खारवेल सत्संग भवन, नई दिल्ली-११००६७

### गुरु-वंदना

धरि कवच संयम उग्रध्यान, कठोर असि निज हाथ ले;  
व्रत, समिति, गुप्ति, सुधर्म, भावन, वीर भट भी साथ ले।  
परचक्र राग-द्वेष हनि, स्वातंत्र्य निधि पाते हुए;  
वे स्वपर तारक गुरु तपोनिधि, मुक्ति पथ जाते हुए ॥

--

--

-

-

निसंग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से;  
निज आत्म में ही विहरते, जीवन न पर की आस से।  
जिनके निकट सिंहादि पशु भी, भूल जाते क्रूरता;  
उन दिव्य गुरुओं की अहो! कैसी अलौकिक शूरता ॥

### वे मुनिवर कब मिली हैं उपगारी ।

साधु दिगम्बर, नग्न निरम्बर, संवर भूषण धारी ॥टेक ॥  
कंचन-काँच बराबर जिनके, ज्यों रिपु त्यों हितकारी।  
महल मसान, मरण अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी ॥

वे मुनिवर कब मिली हैं उपगारी ॥१ ॥

सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक परजारी।  
शोधत जीव सुवर्ण सदा जे, काय-कारिमा टारी ॥

वे मुनिवर कब मिली हैं उपगारी ॥१ ॥

जोरि युगल कर 'भूधर' विनवे, तिन पद ढोक हमारी।  
भाग उदय दर्शन जब पाऊँ, ता दिन की बलिहारी ॥

वे मुनिवर कब मिली हैं उपगारी ॥१ ॥